नवयुग-पाठ्य-ग्रन्थावली नं० १०

साहित्य-परिचय

[हिन्दीके प्रतिनिधि-लेखकोंके साहित्यिक
निबन्धोंका संग्रह]

प्रकाशक—

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, ४

प्रकाशक--

नाथूराम प्रेमी
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई

पहली बार
जुलाई, १९५०

मुद्रक
रघुनाथ दिपाजी देसाई,
न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस,
६ केलेवाड़ी, गिरगाँव, बम्बई नं ४

प्रकाशकीय वक्तव्य

हिन्दीमें निबन्ध-संग्रहोंकी कमी नहीं है। परन्तु ऐसे निबन्ध-संग्रह जिनमें साहित्यके विभिन्न अंगों और प्रवृत्तियोंका निदर्शन हो, प्रायः देखनेमें नहीं आये। प्रस्तुत संग्रह इसी त्रुटिको दूर करनेकी दृष्टिसे प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें साहित्यके विविध उपादानों और हिन्दी साहित्यकी आधुनिक प्रवृत्तियोंका विश्लेषण करनेवाले अधिकारी लेखकोंके निबन्धोंका संकलन किया गया है। हमारा विश्वास है कि इसके द्वारा उच्चशिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियोंको हिन्दी साहित्यकी सभी धाराओंसे यथोचित परिचय हो सकेगा।

—प्रकाशक

लेख-सूची

साहित्य-परिचय

हमारे साहित्यका शरीर

जिस प्रकार हमारे महर्षियोंने जीव-जगत्का अनुसन्धान करके प्रत्येक प्राणीमें शरीर और आत्माका प्रतिपादन किया है, उसी प्रकार साहित्य-कारोंने साहित्यके भी शरीर और आत्माका निरूपण किया है। साहित्यकी आत्मा है उसकी भाव-व्यंजना अर्थात् अर्थ, और शरीर है उसकी शब्द-रचना अर्थात् भाषा।

भाषा शब्द संस्कृतकी 'भाष्' धातुसे बना है, जिसका अर्थ होता है 'बोलना'। जिन ध्वनियोंके उच्चारण द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों-पर प्रकट करता है, उन्हें भाषा कहते हैं। भाषा प्रकृतिजन्य नहीं है, इसका प्रमाण यह है कि बालक जन्मसे कोई भाषा नही बोलता। यदि उसे अपने माँ-बाप या अन्य कुटुम्बी तथा समाजके व्यक्तियोंके सम्पर्क द्वारा उनसे सुन सुनकर भाषा सीखनेका अवसर न दिया जाय तो वह बालक गूँगा निकलता हैं। इसी कारण जो जन्मसे बहिरे होते हैं, वे नियमतः गूँगे भी होते हैं; क्योंकि कानसे सुन न सकनेके कारण वे कोई बोली सीख ही नहीं पाते। अतएव सिद्ध हुआ कि भाषा मनुष्यका प्राकृ-तिक गुण नहीं है, किन्तु सीखकर प्राप्त की हुई योग्यता है।

अभीतक यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि भाषाकी उत्पत्ति कब और किस प्रकार हुई। कोई इसे दैवी दैन मानते हैं, तो कोई कहते हैं कि नहीं; मनुष्योंने विचारपूर्वक परस्पर व्यवहारके लिये ध्वनि-संकेतोंकी स्थापना की। किसीका मत है कि सृष्टिमें स्वभावतः उत्पन्न कलरव तथा पशुपक्षी आदिकी ध्वनियोंको सुनकर मनुष्यने कुछ प्रारंभिक संज्ञाओं और क्रियाओंको स्वीकार किया; तो दूसरा मत है कि मनुष्यके हृदयमें जो भाव और आवेग स्वभावतः उत्पन्न होकर अभिव्यक्त होनेकी प्रेरणा करते हैं, वे किसी समय किन्ही विशेष ध्वनियोंके रूपमें पहले फूट निकले, और वहींसे भाषाका विकास प्रारंभ हुआ। किन्तु ये सब मत प्रायः कल्पना और तर्कके आश्रित हैं, तथा इनके द्वारा किसी भी भाषाके कुछ थोड़ेसे ही शब्दोंकी उत्पत्ति जानी समझी जा सकती है। भाषाकी ध्वनि-योंके बहु भागकी उत्पत्ति तो अबी भी गंभीर अध्ययन और खोजका विषय है।

मानव-जगत्में इस समय कई हजार भाषायें बोली जाती हैं तथा उनमेंकी कुछ लिखी पढ़ी भी जाती हैं। इन भाषाओंमें परस्पर कुछ मौलिक समानताओंके आधारपर भाषा-विशारदोंने इनका वर्गीकरण थोड़ेसे भाषा-परिवारोंमें किया है। यहूदियोंकी प्राचीन भाषा हिब्रू तथा अरबी आदि भाषायें ‘सामी’ परिवारकी मानी जाती हैं, क्योंकि बाइ-बिलके अनुसार उन जातियोंके आदि पुरुषका नाम ‘सेम’ था। आफ्रि-काके मिश्र, हब्श आदि देशोंकी भाषायें ‘हामी’ परिवारकी कही जाती हैं, क्योंकि उनके आदि पुरुष सेमके छोटे भाई ‘हैम’ थे। चीन, तिब्बत, श्याम, ब्रह्मा आदि देशोंकी भाषाओंका परिवार ‘चीनी’ कहलाता है। किन्तु हमारे लिये अधिक महत्त्वपूर्ण उन भाषाओंके परिवार हैं जो भारतवर्षमें प्रचलित हैं। इस देशमें कोई छह सौ भिन्न भिन्न बोलियाँ बोली

जाती हैं, और सुविकसित भाषाओंकी संख्या भी लगभग दो सौ है। अत्यन्त प्राचीन कालमें यहाँ 'नेग्रीटो' और 'आस्ट्रिक' भाषाओंके बोलनेवाले निवास करते थे, जिनके वंशज अब भी थोड़े बहुत यहाँकी आदिम जातियोंमें पाये जाते हैं। जिन भाषाओंका यहाँ सभ्यताके युगमें विशेष रूपसे प्रसार हुआ, वे हैं 'द्राविड' और 'आर्य' परिवारोंकी भाषायें। इस देशमें लिखित भाषाके सबसे प्राचीन उदाहरण सिन्धु नदीकी घाटीके 'हड़प्पा' और 'मोहंजो दड़ो' नामक स्थानोंसे खुदाई द्वारा प्राप्त हुए हैं। किन्तु उनकी लिपि अभीतक ठीक रूपसे नहीं समझी जा सकी। तथापि अन्य अनेक आनुषंगिक प्रमाणोंपरसे वह भाषा 'द्राविड़' परिवारकी अनुमान की जाती है, जिसका प्रसार किसी समय—संभवतः आजसे कोई पाँच हजार वर्ष पूर्व—मेसोपीटामियासे लेकर भारत तक था। द्राविड परिवारकी जिन भाषाओंने विशेष उन्नति की, वे हैं तामिल, तेलुगू, मल्यालम और कन्नड़। ये भाषायें दक्षिण भारतमें प्रचलित हैं, उनके बोलनेवालोंको संख्या लगभग आठ करोड़ है और उनका साहित्य भी उन्नत और परिपुष्ट है।

संसार भरकी भाषाओंमें सबसे महत्त्वपूर्ण है 'आर्य-भाषा-परिवार,' क्योंकि आज जो राष्ट्र विशेषरूपसे उन्नतिके शिखरपर दिखाई देते हैं, वे सब प्रायः इसी परिवारकी भाषाओंका उपयोग करते हैं। इस भाषा-परिवारकी दो प्रमुख शाखायें हैं 'यूरोपीय' और 'हिन्द-ईरानी।' ग्रीक, लेटिन तथा जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड, रूस आदि यूरोपके समस्त देशोंमें प्रचलित भाषायें 'यूरोपीय' परिवारकी ही शाखा-प्रशाखायें हैं। ईरान और उत्तर भारतमें प्रचलित भाषायें 'हिन्द-ईरानी' की शाखायें हैं। इन भाषाओंके क्षेत्र-विस्तार, बोलनेवालोंकी संख्या तथा साहित्य परसे जाना जा सकता है कि इस भाषा-परिवारका स्थान सभ्य संसारमें कितना उच्च हैं।

'हिन्द-ईरानी' शाखाकी पुनः दो उपशाखायें हुईं—एक 'ईरानी' और दूसरी 'भारतीय'। ईरानी शाखाने 'अवस्ती' 'पहलवी' और 'फारसी' भाषाओंको जन्म दिया। पारसी-धर्मके मूलग्रंथ 'अवेस्ता' की भाषा 'अवेस्ती' कहलाती है, और उसकी टीका 'जेन्द' अर्थात् 'पहलवी' भाषामें लिखी गई है। फारसी भाषाकी मुसलमानी युगमें खूब उन्नति हुई, किन्तु अरबीके प्रभावके कारण वह अपने देशकी प्राचीन भाषाओंसे उत्तरोत्तर दूर पड़ती गई है।

जैसा कि नामपरसे ही सुविदित हो जाता है, 'भारतीय' आर्य-उपशाखाका संबंध भारत देशसे है। इसका प्राचीनतम रूप हमें 'वेदों' में दिखाई देता है। ऋक्, यजुः, साम और अथर्व, इन चार वेदोंमें प्रचुर काव्य-रचना विद्यमान है जो कमसे कम चार हजार वर्ष पुरानी है। वेदोंकी भाषा 'अवेस्ती' से इतनी मिलती जुलती है कि थोड़ेसे परिवर्तनसे अवेस्ताकी 'गाथाएँ' वेदकी 'ऋचाओं' का रूप धारण कर सकती हैं। इन दोनों बहिनोंमें वेद-भाषा जेठी मानी जाती है।

वेदभाषाका क्रमशः परिवर्तन-परिमार्जन होते होते विक्रमसे चार पाँच शताब्दि पूर्व उसका वह रूप बन गया जिसे हम 'संस्कृत' कहते हैं। इस संधि-कालका साहित्य उन 'आरण्यक' और 'उपनिषद्' ग्रंथोंमें पाया जाता है जो हमारी आध्यात्मिक विचार-धारा और दर्शन-शास्त्रोंके आदितम स्रोत है। संस्कृतकी प्राचीनतम काव्य-रचनाके सुन्दर उदाहरण हैं वाल्मीकिकृत 'रामायण' और व्यासमुनि कृत 'महाभारत' जिनमें भारतीय संस्कृतिकी सर्वांगीण रूपरेखा अत्यन्त स्पष्टतासे चित्रित पाई जाती है। इन्हींके आधारपर संस्कृतके उन महाकाव्यों, नाटकों, गीतों और गद्यकाव्यों आदिका निर्माण हुआ जो काव्य-कलाकी दृष्टिसे इस देशमें महान् गौरवकी वस्तु माने जाते है। इन काव्योंके कर्ताओंमें अश्वघोष,

कालिदास, माघ, जिनसेन, भवभूति, दण्डी, बाग आदि महाकवियोंके नाम सुप्रसिद्ध हैं। वैदिक और संस्कृत भाषाओंको भारतीय आर्य-परिवारके विकासकी 'प्राचीन' सीढ़ी माना जाता है। इन भाषाओंका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याकरण पाणिनिमुनिकृत 'अष्टाध्यायी' नामक ग्रंथमें पाया जाता है, जो अपनी सूक्ष्मता, शैली, सुव्यवस्था और परिपूर्णताके लिये संसारभरमें अनुपम है।

भारतीय आर्य-परिवारके भाषा-विकासका मध्यवर्ती युग 'पाली' और 'प्राकृत' भाषाओंकी उन्नति और साहित्य-निर्माणसे अलंकृत हुआ है। एशिया महाद्वीपके चीन श्याम, ब्रह्मा और लंका आदि देशोंमें भारतीय संस्कृतिको प्रसारित करनेका श्रेय भगवान् बुद्धद्वारा उपदिष्ट बौद्ध धर्मको है। इस धर्मके प्राचीन ग्रंथ 'त्रिपिटक' कहलाते है, क्योंकि वे पहले अलग अलग तीन पिटारियोंमें रखे जाते थे। 'विनय-पिटक' में बौद्ध साधुओंके पालन करने योग्य सदाचारके नियम बतलाये गये हैं, 'सूत्र-पिटक' में भगवान् बुद्ध तथा उनके प्रमुख शिष्यों द्वारा दिये गये उपदेशों, आख्यानों आदिका संग्रह है और 'अभिधर्म-पिटक' में बौद्ध-सिद्धान्तका प्रतिपादन पाया जाता है। इन ग्रंथोंमें जिस पाली भाषाका प्रयोग किया गया है वह संस्कृतसे बहुत मिलती जुलती होते हुए भी उससे पृथक् है; प्रायः उतनी ही पृथक् जितनी कोई मँजी हुई साहित्यिक भाषा और उसकी सहगामिनी अशिक्षित समाजमें प्रचलित बोली। किन्तु व्याकरणके नियमोंसे संस्कृतके समान जकड़ी हुई न होते हुए भी साहित्यमें उतरकर पाली भी खूब पुष्ट और परिमार्जित हो गई है। पालीका संगठन किस प्रदेशकी बोलीके आधारपर हुआ है यह निर्णय करना कठिन है, विशेषतः इस कारण कि उपलभ्य पाली-साहित्यका संकलन लंकामें हुआ था, और वहींसे वह भारतमें आया है।

भगवान् बुद्धसे कुछ पूर्व भगवान् महावीरने जैन-धर्मका उपदेश और प्रचार करना प्रारंभ कर दिया था। इस कार्यके लिये उन्होंने जिस भाषाका अवलम्बन लिया वह न तो संस्कृत है और न पाली। वह है 'अर्ध मागधी' जो उस समय मगध और शूरसेन (मथुरा) के सीमा-प्रदेशकी लोकभाषा थी, तथा जिसमें मागधी एवं शौरसेनी इन दोनों प्रादेशिक भाषाओंकी प्रवृत्तियाँ विद्यमान होनेसे वह दोनों प्रदेशोंमें समझी जा सकती थी। इसी अर्धमागधी प्राकृतमें जैन सूत्रोंकी रचना हुई। वर्तमानमें जो अर्धमागधीके ४५ जैन सूत्र-ग्रंथ उपलभ्य हैं उनका संकलन महावीर भगवानके निर्वाणसे ९८० वर्ष पश्चात् अर्थात् विक्रम संवत् ५१० में वलभी (गुजरात) में हुआ था। इन सूत्रोंपर कुछ टीकायें लिखी गई हैं तथा अन्य स्वतंत्र ग्रंथ भी रचे गये, जिनकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। महाराष्ट्री प्राकृत अपने कालमें खूब लोकप्रिय हुई और उसमें पउम-चरिउ, गाथा सप्तशती, सेतुबन्ध आदि उत्तम काव्योंकी भी रचना की गई। शौरसेनी प्राकृतका उपयोग दिगम्बर जैन-सूत्रों, उनकी टीकाओं तथा अनेक पद्यात्मक धार्मिक रचनाओंमें किया गया पाया जाता है। संस्कृत नाटकोंमें प्रायः प्राकृत पद्य महाराष्ट्रीमें और प्राकृत गद्य शौरसेनीमें रचित मिलते हैं।

इसी कालमे जिन दो अन्य प्रादेशिक भाषाओंका साहित्यमें अवतार हुआ, वे हैं पैशाची और मागधी। पैशाची मूलतः पिशाच अर्थात् पसाई प्रदेशकी (भारतके उत्तर प्रदेशकी) भाषा होनी चाहिये। उसकी वंशज इस समय पश्तो भाषा पाई जाती है। पैशाची प्राकृतमें एक 'बृहत्कथा' नामक कथा-ग्रंथकी रचना हुई थी जिसका उल्लेख पाँचवीं छठी शताब्दिके कवियों द्वारा पाया जाता हैं। किन्तु यह उत्तम कथा-ग्रंथ अब नहीं मिलता। हम उसका संस्कृत रूपान्तर 'बृहत्कथा-मंजरी,' और 'कथा-सरित्सागर' ग्रंथोंमें पाया जाता है। पैशाची प्राकृतके उदाहरण हमें अब

केवल प्राकृत-व्याकरणोंमें, संस्कृतके नाटकोंमें तथा पश्चिमोत्तर भारत एवं मध्य एशियाके कुछ प्राचीन लेखोंमें मिलते हैं।

मागधी प्राकृत मगध देशकी भाषा थी। कहा जाता है कि बुद्ध भगवान्‌का उपदेश मागधी भाषामें ही होता था। किन्तु प्राकृत व्याकरणोंमें मागधीके जो लक्षण बतलाये गये हैं वे वर्तमान पाली भाषामें नहीं पाये जाते। मागधीके उदाहरण अब हमें केवल प्राकृत व्याकरणों और संस्कृत नाटकोंमें और अशोक महाराजके तथा अन्य कुछ शिलालेखोंमें मिलते हैं।

जिस प्राकृत भाषाका हिन्दी तथा अन्य उत्तर-भारतीय भाषाओंसे अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है वह कहलाती है 'अपभ्रंश'। अपभ्रंशका शब्दार्थ होता है विकृत अर्थात् बिगड़ी हुई। किन्तु इसपरसे इस भाषामें किसी विशेष दूषण होनेका अनुमान नहीं करना चाहिये। किसी भी स्थितिमें परिवर्तन होनेपर स्थितिपालक लोग उसे विकार कहते हैं तथा सुधारक उसे विकास कहते हैं। पूर्व स्थितिमें परिवर्तनद्वारा विकसित भाषाको संस्कृतके स्थिति-पालकोंने ही अपभ्रंश नाम दिया, यद्यपि उस भाषामें रचना करनेवाले कवि अपनी भाषाको प्रायः 'देशी' कहते थे। व्याकरणकार प्रायः संस्कृतके पक्षपाती रहे हैं, और प्राकृतोंके रूप उन्होंने संस्कृतमें विकारों द्वारा ही सिद्ध किये है। अतः उन्होंने 'देशी' भाषाके लिये अपभ्रंश नाम स्वीकार कर लिया और वह प्रचलित भी हो गया।

एक मत यह है कि पूर्वोक्त प्राकृत भाषाओंने अपने अपने लक्षणोंसे युक्त एक एक अपभ्रंश भाषाको जन्म दिया और उन्ही अपभ्रंशोंसे वर्तमान प्रान्तीय भाषाओंका विकास हुआ। जैसे—मागधी प्राकृतसे एक मागधी अपभ्रंश बना और उससे बंगाली

भाषा बनी । महाराष्ट्री प्राकृतसे महाराष्ट्री अपभ्रंश उत्पन्न हुआ जिसने मराठी भाषाको जन्म दिया। शौरसेनी प्राकृतसे शौरसेनी अपभ्रंश और उससे गुजराती, राजस्थानी और ब्रज-भाषायें निकलीं । अर्धमागधी प्राकृतसे उसी नामका अपभ्रंश और फिर उससे अवधी भाषाकी उत्पत्ति हुई; इत्यादि । गत तीस चालीस वर्षके भीतर अपभ्रंश भाषाका विशाल साहित्य प्रकाशमें आया है, जिसका रचना-काल तीसरी चौथी शताब्दिसे लगाकर उन्नीसवीं शताब्दि तक पाया जाता है । इस साहित्यमें हमें अपभ्रंशका जो रूप दिखाई देता है वह प्रायः मंजा हुआ टकसाली है । तो भी उसमें कहीं कहीं हमें वे प्रान्तीय प्रवृत्तियाँ मिल जाती हैं जो हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगाली आदि भाषाओंके विकासको समझनेके लिये अत्यन्त उपयोगी हैं । हिन्दी काव्यशैलीको समझनेके लिये तो अपभ्रंश साहित्यका परिचय नितान्त आवश्यक है । तुकबद्ध कविताका प्रादुर्भाव तथा दोहा छंदका प्रचुरतासे प्रयोग अपभ्रंशकी विशेषताएँ हैं । यदि हम हिन्दी काव्योंकी दोहा-चौपाईरूप रचनाका विकास समझना चाहते हैं तो हमें अपभ्रंशके काव्योंमें निबद्ध पद्धड़िया और दुवई या घत्ता छन्दोंकी ओर ध्यान देना चाहिये। प्राचीन हिन्दी, मराठी, गुजरातीका कर्ताकारक 'उ' अपभ्रंशकी ही देन है । इत्यादि ।

अपभ्रंश भाषामें प्रधानतासे बौद्ध और जैन रचनाएँ पाई जाती हैं । बौद्ध सन्तोंने अपभ्रंशमें 'दोहा-कोष' और 'चर्यापदों' की रचना की है । जैनियोंने तो अनेक दोहा-ग्रन्थों, स्तोत्रों, गीतों और कथानकोंके अतिरिक्त बड़े बड़े पुराण भी अपभ्रंश कवितामें रचे हैं । इनमें स्वयंभू कविका 'रामायण' और 'हरिवंशपुराण' पुष्पदन्तके 'महापुराण,' 'यशोधर-चरित' 'नागकुमार-चरित,' धनपालका 'भविष्यदत्तचरित', हरिभद्रकृत 'सनत्कुमार-

चरित' आदि कुछ रचनाएँ सुचारु रूपसे सम्पादित होकर प्रकाशित भी हो चुकी हैं। इन सबसे प्राचीन अपभ्रंशके उदाहरण महाकवि कालिदासके विक्रमोर्वशीय नाटकमें मिलते हैं। मिथिलाके महाकवि विद्यापतिकी 'कीर्तिलता' तथा 'प्राकृत पिंगल'में 'अवहट्टा-' अपभ्रटा या अपभ्रंशकी ऐसी रचना मिलती है जो हिन्दीके विकासकी दृष्टिसे बहुत उपयोगी है। अपभ्रंश तथा अन्य पूर्वोक्त प्राकृतोंका सर्वाङ्ग सुन्दर व्याकरण हेमचन्द्राचार्य-कृत पाया जाता है जो इन सब भाषाओंके अध्ययनके लिये सर्वोत्तम साधन है।

यद्यपि अपभ्रंशकी रचनाएँ गत शताब्दि तककी पाई जाती हैं, तथापि भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे अपभ्रंशका युग विक्रमकी बारहवीं शताब्दि तक माना जाता है, क्यों कि उसके पश्चात् आधुनिक भाषाओंका विकास होने लगता है। अतएव बारहवीं शताब्दि तकका यह काल भारतीय आर्य-भाषाका मध्ययुग माना जाता है।

इसके पश्चात् भारतीय आर्य-भाषाके विकासका वर्तमान युग प्रारंभ होता है जिसमें हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगाली आदि प्रचलित भाषाओंका जन्म और पोषण हुआ। हिन्दी भाषाका विकास तीन भागोंमें बाँटा जा सकता है। हिन्दीका प्रारम्भिक काल बारहवींसे पन्द्रहवीं शताब्दि तक जाता है जिसमें हिन्दी भाषा अपभ्रंशके प्रभावसे मुक्त नहीं हो पाई। इस कालकी रचनाओंमें वीसलदेव-रासो, पृथ्वीराज-रासोके प्राचीन अंश, तथा गोरखनाथकी रचनायें मुख्य हैं। हिन्दीका मध्यकाल सोलहवींसे अठारहवीं शताब्दितक गया है। इस कालमें हिन्दी अपभ्रंशके प्रभावसे मुक्त हो गई और उसकी अनेक प्रादेशिक बोलियाँ प्रौढ़ होकर साहित्यमें पदार्पण करने लगीं। इस कालमें अवधीने पद्मावत और रामचरितमानस तथा व्रजभाषाने सूरसागर जैसी उत्तम कृतियोंको उत्पन्न करके

अमर यश प्राप्त कर लिया। उन्नीसवीं शताब्दिसे हिन्दीका जो आधुनिक काल प्रारंभ हुआ उसकी विशेषता यह है कि मेरठके आसपासकी खड़ी बोलीने प्रधानता प्राप्त कर ली और उसने क्रमशः हिन्दी साहित्यपर प्रायः असपत्नीक अधिकार जमा लिया।

हिन्दी भाषाकी मुख्य बोलियाँ आठ हैं जिनमें खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रज, कनौजी और बुंदेलखण्डी, इन पाँचको 'पश्चिमी हिन्दी' तथा अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी, इन तीनको 'पूर्वी हिन्दी' कहा जाता है। पश्चिमी हिन्दीका विकास शौरसेनी प्राकृतसे तथा पूर्वी हिन्दीका अर्धमागधी प्राकृतसे अनुमान किया जाता है किन्तु यदि हम उपलब्ध अपभ्रंश भाषा और साहित्यकी सामग्रीको सन्मुख रखकर विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि सामान्यतः हिन्दीकी सच्ची जननी वह अपभ्रंश भाषा है जिसकी हेमचन्द्राचार्यने अपने प्राकृत व्याकरणमें खूब उदाहरण देकर व्याख्या की है, और जिसे अन्य वैयाकरणोंने 'नागर' अपभ्रंश कहा है। संभवतः इसी कारण हिन्दीका असली प्राचीन नाम 'नागरी' पाया जाता है।

साहित्य

'सहितस्य भावः साहित्यम्' अर्थात् जिसमें सहितका भाव हो उसे साहित्य कहते हैं। इसके विषयमें संस्कृत साहित्यकारोंने जो सम्मतियाँ दी है मैं उनमेंसे कुछको नीचे लिखता हूँ। उनके अवलोकनसे भी साहित्यकी परिभाषापर बहुत कुछ प्रकाश पड़ेगा। श्राद्ध-विवेककार कहते हैं:—

'परस्परसापेक्षाणां तुल्यरूपाणां युगपदेकक्रियान्वयित्वं साहित्यम्।'

शब्दशक्तिप्रकाशिकाके रचयिता लिखते हैं:—

"तुल्यवदेकक्रियान्वायित्वं बुद्धिविशेषविषयित्वं वा साहित्यम्।'

शब्दकल्पद्रुमकारकी यह सम्मति है:—

"मनुष्यकृतश्लोकमयग्रन्थविशेषः साहित्यम्।"

कवीन्द्र रवीन्द्र कहते है:—

"सहित शब्दसे साहित्यकी उत्पत्ति है—अतएव धातुगत अर्थ करने-पर साहित्य शब्दमें मिलनका एक भाव दृष्टिगोचर होता है। वह केवल भावका भावके साथ, भाषाका भाषाके साथ, ग्रंथका ग्रंथके साथ मिलन हैं। यही नहीं वरन् वह बतलाता है कि मनुष्यके साथ मनुष्यका अतीतके साथ वर्तमानका, दूरके सहित निकटका अत्यंत अन्तरंग योग साधन साहित्य व्यतीत और किसीके द्वारा सम्भव नहीं। जिस देशमें साहित्यका अभाव है उस देशके लोग सजीव बंधनसे बँधे नही विछिन्न होते हैं।"

श्राद्ध-विवेक और शब्दशक्ति-प्रकाशिकाने साहित्यकी जो व्याख्या दी है, कवीन्द्रका कथन एक प्रकारसे उसकी टीका है। वह व्यापक और उदात्त है। कुछ लोगोंका विचार है कि साहित्य शब्द काव्यके अर्थमें रूढ़ है। शब्दकल्पद्रुमकी कल्पना कुछ ऐसी ही है। परंतु ऊपरकी शेष परिभाषाओं और अवतरणोंसे यह विचार एकदेशीय पाया जाता है। साहित्य शब्दका जो शाब्दिक अर्थ है वह स्वयं बहुत व्यापक है, उसको संकुचित अर्थमें ग्रहण करना संगत नहीं। साहित्य समाजका जीवन है, वह उसके उत्थान-पतनका साधन है, साहित्यके उन्नत होनेसे समाज उन्नत और उसके पतनसे समाज पतित होता है। साहित्य वह आलोक है जो देशको अंधकाररहित, जाति-मुखको उज्ज्वल और समाजके प्रभाहीन नेत्रोंको सप्रभ रखता है। वह सबल जातिका बल, सजीव जातिका जीवन, उत्साहित जातिका उत्साह, पराक्रमी जातिका पराक्रम, अध्यवसायशील जातिका अध्यवसाय, साहसी जातिका साहस और कर्तव्यपरायण जातिका कर्तव्य है।

एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटैनिकामें साहित्यकी परिभाषा इस प्रकार की गई है:—

"साहित्य एक व्यापक शब्द है जो यथार्थ परिभाषाके अभावमें सर्वोत्तम विचारकी उत्तमोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्तिके स्थानमें व्यवहृत हो सकता है। इसके विचित्र रूप जातीय विशेषताओंके, अथवा विभिन्न व्यक्तिगत प्रकृतिके अथवा ऐसी राजनितिक परिस्थितियोंके परिणाम हैं जिनमें एक सामाजिक वर्गका आधिपत्य सुनिश्चित होता है और वह अपने विचारों और भावोंका प्रचार करनेमें समर्थ होता है।"

"जैसे प्रत्येक ग्रंथकी ओटमें उसके रचयिताका और प्रत्येक राष्ट्रीय साहित्यकी ओटमें उसको उत्पन्न करनेवाली जातिका व्यक्तित्व छिपा

रहता है वैसे ही काल-विशेषके साहित्यकी ओटमें उस कालके जीवनको रूप प्रदान करनेवाली व्यक्तिमूलक और अव्यक्तिमूलक अनेक संयुक्त शक्तियाँ काम करती रहती हैं। साहित्य उन अनेक साधनोंमेंसे एक है जिसमें काल विशेषकी स्फूर्ति अपनी अभिव्यक्ति पाकर उन्मुक्त होती है। यही स्फूर्ति परिप्लावित होकर राजनीतिक आन्दोलनों, धार्मिक विचारों, दार्शनिक तर्क-वितर्कों और कलामें प्रकट होती है।"

'स्टडी आन् लिटरेचर'—विलियम हेनरी हडसन

वह धर्मभाव जो सब भावनाओंका विभव है, वह ज्ञान-गरिमा जो गौरव-कामुकको सगौरव करती है, वह विचारपरम्परा जो विचार-शीलताकी शिला है, वह धारणा जो धरणीमें सजीव जीवन-धारणकी आधार है, वह प्रतिभा जो अलौकिकतासे प्रतिभासित हो पतितोंको उठाती हैं, लोचनहीनको लोचन देती है और निरावलम्बका अवलम्बन होती है, वह कविता जो सूक्तिसमूहकी प्रसविता हो संसारकी सारवत्ता बतलाती है, वह कल्पना जो कामद-कल्प-लतिका बन सुधा-फल फलाती है, वह रचना जो रुचिर रुचि-सहचरी है, वह ध्वनि जो स्वर्गीय ध्वनिसे देशको ध्वनित करती है साहित्यका सम्बल और विभूति है। वह सजीवता जो निर्जीवता-संजीवनी है, वह साधना जो समस्त सिद्धिका साधन है, वह चातुरी जो चतुर्वर्ग-जननी है, एवं वह चारु चरितावली, जो जाति-चेतना और चेतावनीकी परिचायिका है, जो साहित्यकी सहचरी होती है, वास्तवमें वह साहित्य ही साहित्य कहलानेका अधिकारी है। मेरा विचार है कि साहित्य ही वह कसौटी है जिसपर किसी जातिकी सभ्यता कसी जा सकती है। असभ्य जातियोंमें प्रायः साहित्य-का अभाव होता है इसलिये उनके पास वह संचित संपत्ति नहीं होती जिसके आधारसे वे अपने अतीत कालका यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर सकें

और उसके आधारसे अपने वर्तमान और भावी सन्तानोंमें वह स्फूर्ति भर सकें, जिसको लाभकर सभ्य जातियाँ समुन्नति-सोपानपर आरोहण करती हैं। इसीलिये उनका जीवन प्रायः ऐसी परिमित परिधिमें बद्ध होता है जो उनको देश-कालके अनुकूल बनाकर वे संसार-क्षेत्रमें अपनेको गौरवित अथवा यथार्थ सुखित बना सकें। वह न्यूनता उनके प्रति दिन अधःपतनका कारण होती है और उनको उस अज्ञानान्धकारसे बाहर नहीं निकलने देती जो उनके जीवनको प्रकाशमय समुज्ज्वल नहीं बनने देता। सभ्य जातियाँ सभ्य इसीलिये हैं और देशकालानुसार समुन्नत होती रहती हैं कि उनका आलोकमय वर्द्धमान साहित्य उनके प्रगतिप्राप्त पथको तिमिररहित करता रहता है। ऐसी अवस्थामें साहित्यकी उपयोगिता और उपकारिता स्पष्ट है। आज दिन जितनी जातियाँ समुन्नत हैं उनपर दृष्टि डालनेसे यह ज्ञात होता है कि जो जातियाँ जितनी ही गौरवप्राप्त और महिमामयी हैं उनका साहित्य भी उतना ही प्रशस्त और महान् है। क्या इससे साहित्यकी महत्ता भली भाँति प्रकट नहीं होती?

जो जातियाँ दिन दिन अवनतिके गर्त्तमें गिर रही हैं उनके देखनेसे यह ज्ञात होता है कि उनके पतनका हेतु उनका वह साहित्य हैं जो समयानुसार अपनी प्रगतिको न तो बदल सका और न अपनेको देशकालानुसार बना सका। अधिकांश मानवी संस्कारोंको साहित्य ही बनाता है। वंशगत विचार-परम्परा ही मानव-जातिके संस्कारोंकी जननी होती हैं। जिस जातिके साहित्यमें विलासिताकी ही धारा चिरकालसे बहती आई है उस जातिमें यदि शूरता और कर्मशीलताका अभाव प्राय: देखा जाय, तो क्या आश्चर्य? उसी प्रकार जिस जातिके साहित्यमें विरागधारा प्रबलतर गतिसे प्रवाहित होती

रहे, यदि वह संसारत्यागी बननेका मंत्र पाठ करे तो कोई विचित्रता नहीं। क्योंकि जिन विचारों और सिद्धांतोंको हम प्रायः पुस्तकोंमें पढ़ते रहते हैं, विद्वानोंके मुखसे सुनते हैं अथवा सभा-समाजोंमें घर और बाहर जिनका अधिकतर प्रचार पाते हैं उनसे प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकते हैं? क्योंकि सिद्धांत और विचार ही मानवके मानसिक भावोंका संगठन करते हैं।

इन कतिपय पंक्तियोंमें जो कुछ कहा गया है उससे यह सिद्ध होता है कि साहित्यका देश और समाजपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि वे साहित्यके आधारसे विकसित होते, बनते और बिगड़ते हैं तो साहित्य भी उनकी सामयिक अवस्थाओंपर अवलम्बित होता है। जहाँ इन दोनोंका सामञ्जस्य यथारीति सुरक्षित रहता है और उचित और आवश्यक पथका त्याग नहीं करता वहाँ एक दूसरेके आधारसे पुष्पित, पल्लवित और उन्नत होता है अथवा पतन उसका निश्चित परिणाम है।

साहित्यकी पृष्ठ-भूमि

साहित्य मानवीय अनुभूतियोंका प्रतिबिम्ब है और उनकी आलोचना-पर उसकी सृष्टि ही क्यों होती है? यह प्रश्न सहज ही उद्भूत होता है। कहा जाता है कि मनुष्यमें अपनेको अभिव्यक्त करनेकी तीव्रतम आकांक्षा होती है। जब वह संसारमें कुछ देखता है, कुछ अनुभव करता है, तो उस अनुभवको अपने तक ही सीमित नहीं रखना चाहता, वह उसे स्वभावतः दूसरोंपर प्रकट किए बिना नहीं रह सकता। वह अपने 'एक'को 'अनेक' में बिखेरनेको व्याकुल हो उठता है। उसमें 'एकोहं बहुस्याम्' की भावना स्वभावतः होती है।

एक मनोवैज्ञानिकका विश्वास है कि साहित्य अतृप्त वासनाओंकी अभिव्यक्ति मात्र है। उसका कहना है कि "मनुष्यका समस्त मानव-जीवन उसकी कुछ आदिम प्रवृत्तियों और सामाजिक आवश्यकताओंके अन्तर्द्वन्द्व द्वारा ही संगठित और शासित होता है और उन प्रवृत्तियोंमें कामप्रवृत्ति ही सबसे प्रबल होती है।" मनके उसने तीन भाग किये हैं—एक चेतन, दूसरा अर्धचेतन, और तीसरा अचेतन मन। चेतनसे सभी बातोंका ज्ञान हमें रहता है; अर्धचेतनसे बीती बातोंकी हमें स्मृति आती है; और अचेतन मन सुप्तावस्थाका भाग है, जिसका हमें ज़रा भी आभास नहीं होता। शास्त्रीय भाषामें मनका अचेतन भाग 'इड' कहलाता है, जो मनुष्य-जन्मकी प्रारम्भिक अवस्था है। 'इड' विकसित होकर 'इगो' नामक दूसरा मनखंड बन जाता है, जिसमें हमारे चेतन ज्ञानकी स्थिति है और इन दोनोंसे पृथक् मनकी तीसरी अवस्थाको 'सुपर इगो' कहते हैं, जो आदर्श सिद्धान्त और धर्मा-

धर्मकी भावनाओंसे ओत-प्रोत रहता है। यह मन-खंड जिस व्यक्तिमें जितना विकसित होता है वह उतना ही आत्मदमन-प्रिय होता है। वह अपने 'इगो' के प्रकृत विकारोंसे सदा संघर्ष लेता रहता है और उनपर विजय प्राप्त करता रहता है।

फ्राइड कहता है कि इच्छाओंका दमन दो रूपोंमें प्रकट होता है—(१) हिस्टीरिया, मेलनकोलोनिया (उदासी) आदि रोगोंमें और (२) उन्नत भावनाओंकी सृष्टिमें। कलाकारकी 'कृति' (साहित्यका जन्म) 'दमन' के दूसरे रूपका परिचायक है।

'फ्राइड' की इस व्याख्यामें हमें एकांगीपन दीखता है। यह विशुद्ध काल्पनिक साहित्यके सम्बन्धमें ठीक हो सकती है। हमारी इच्छा हवाई जहाजमें उड़नेकी है पर हमारे साधन इतने अल्प हैं कि हम उसमें 'उड़' नहीं सकते। अतः, हमें अपनी इस 'इच्छा' का दमन करना पड़ता है। पर हम स्वप्नमें आसानीसे हवाई जहाजमें बैठ गगन-विहार कर सकते हैं; और चाहे तो कल्पनाके द्वारा भी अपने उड़नेके सुख-दुःखको प्रकट कर सकते हैं। फ्राइडके अनुसार हमारी इच्छाएँ प्रत्यक्ष जगतमें जब अतृप्त रहती हैं तब वे साहित्यमें उतर कर हमें तृप्ति प्रदान करती है।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या साहित्यमें अतृप्त विकारों—इच्छाओं—का ही प्रतिबिम्ब होता है? यदि ऐसा हो तो साहित्यसे अनुभूत विकारों—इच्छाओं—का निष्कासन ही हो जाता है। पर हम देखते हैं, तृप्त और अतृप्त दोनों प्रकारकी 'वासनाएँ' साहित्य-सृजनकी पृष्ठ-भूमि तैयार करती हैं। अतृप्त वासनाएं अपनी अभिव्यक्तिमें भावनाओंकी तीव्रताका कारण अवश्य बनती है; सृष्टाके मनमें विह्वलता, अशान्ति और ललक बढ़ाती हैं और जब तक वे साहित्यका कोई मूर्त्तरूप धारण नहीं कर

लेतीं, उसे अस्वस्थ ही रखती हैं। संभव है, मानसिक अशान्तिके कारण ही फ्राइडने उसे साहित्य-सृष्टिका मूल माना हो, पर उसकी आँखोंसे यह बात ओझल हो गई कि अनुभूतिका सत्य भी साहित्यको प्रेरित करता है। अतः, हमें साहित्य-सृजनका प्रथम कारण ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है। हमारे भीतर जो अपने अनुभव को,—चाहे वह अतृप्त वासनाजन्य विकलता हो, चाहे तृप्त वासनाका आत्मविभोरक सुख हो—व्यक्त करनेकी जो स्वाभाविक उत्कण्ठा होती है, वही साहित्यकी भूमिका है। एकमें किसी वस्तु या भावके अभावका अनुभव होता है और दूसरेमें 'वस्तु' या 'भाव' की प्राप्तिका अनुभव होता है। दोनों स्थितियोंमें 'अनुभव' आवश्यक है। तभी साहित्यको 'मानव-जीवनकी अनुभूति' उचित ही कहा जाता है। यहाँ वस्तु या भावके 'अभाव' और प्राप्तिका अर्थ समझना आवश्यक है। 'वस्तु' चूँकि रूपात्मक है, इसलिये उसके अभाव और पानेकी दशा स्पष्ट है, पर 'भाव' अरूपात्मक है; इसलिये उसके अभाव और प्राप्तिकी स्थिति विचारणीय है। उदाहरणके लिये 'क' कचहरीमें एक सिविल जज है। सिविल जजके पदके साथ कुछ अधिकारोंका समावेश है। उन अधिकारोंमें मुकदमा सुनना, स्थगित करना, अनुकूल प्रतिकूल निर्णय देना आदि आते हैं। अधिकार-पद सर्वथा अरूपात्मक है। उसीके पास बैठा हुआ 'ब' एक क्लर्क है, जो 'जज' के अधिकारोंको देखकर मन ही मन अपने 'पद' में उन्हें न पाकर ललक उठता है—विकल हो उठता है। उसकी इस मानसिक प्रक्रियाको हम कह सकते हैं कि 'ब में 'क' के अधिकार-पद' के भावका अभाव उसमें व्याकुलता भर रहा है।

मान लीजिए परिस्थति विशेषने 'ब' को 'क' के स्थानपर आसीन

कर दिया। ऐसी स्थितिमें हम कहेंगे कि 'ब' जजके अधिकार-'भाव' की 'प्राप्ति' का 'सुख' अनुभव कर रहा है। कहनेका तात्पर्य यह कि हम 'रूप' को ही पानेको व्यग्र नहीं होते, 'अरूप' के प्रति भी हमारी आकांक्षा होती है। उसके अभावकी व्यग्रता हमारे मनको आच्छादित कर देती है, और तब हम भरे हुए तालाबके जलको द्वारसे बाहर निकालनेके समान उसे मुख या लेखनीसे प्रवाहित कर देते हैं। इसी प्रकार उसकी प्राप्तिका हर्ष भी हमारे मनको भर देता है, और हम उसे अपने भीतर ही अधिक समय तक रोक रखनेकी क्षमता न रहनेपर 'बाहर' निःसृत कर देते हैं। विषाद और हर्षका साहित्य उन्हीं मानसिक क्रियाओंका परिणाम होता है।

साहित्यकी महत्ता

ज्ञान-राशिके संचित कोशका नाम साहित्य है। सब तरहके भावोंको प्रकट करनेकी योग्यता रखनेवाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निजका साहित्य नहीं रखती तो वह रूपवती भिखारिनकी तरह, कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्रीसम्पन्नता, उसकी मान-मर्यादा उसके साहित्यपर ही अवलम्बित रहती है। जाति-विशेषके उत्कर्षापकर्षका, उसके उच्च-नीच भावोंका, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठनका, उसके ऐतिहासिक घटना-चक्रों और राजनीतिक स्थितियोंका प्रतिबिंब देखनेको यदि कहीं मिल सकता है तो उसके ग्रंथ-साहित्यमें मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता और असभ्यताका निर्णायक एकमात्र साहित्य है। जिस जाति-विशेषमें साहित्यका अभाव या उसकी न्यूनता आपको देख पड़े आप निस्संदेह निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्ण सभ्य है। जिस जातिकी सामाजिक अवस्था जैसी होती है, उसका साहित्य भी वैसा ही होता है। जातियोंको समता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखनेको मिल सकती है तो उनके साहित्य-रूपी आईनेमें ही मिल सकती है। इस आईनेके सामने जाते ही हमें यह तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जातिकी जीवनी-शक्ति इस समय कितनी या कैसी है और भूतकालमें कितनी और कैसी थी। आप भोजन करना बंद कर दीजिये या कम कर दीजिये, आपका शरीर क्षीण हो जायगा और अचिरात् नाशोन्मुख होने लगेगा।

इसी तरह आप साहित्यके रसास्वादसे अपने मस्तिष्कको वंचित कर दीजिये, वह निष्क्रिय होकर धीरे-धीरे किसी कामका न रह जायगा। बात यह है कि शरीरके जिस अंगका जो काम है वह उससे यदि न लिया जाय, तो उसकी वह काम करनेकी शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती। शरीरका खाद्य भोजनीय पदार्थ है और मस्तिष्कका खाद्य साहित्य। अतएव यदि हम अपने मस्तिष्कको निष्क्रिय और कालान्तरमें निर्जीव-सा नहीं कर डालना चाहते तो हमें साहित्यका सतत सेवन करना चाहिये और उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लानेके लिये उसका उत्पादन भी करना चाहिये। पर, याद रखिये कि विकृत भोजनसे जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है उसी तरह विकृत साहित्यसे मस्तिष्क भी विकारग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्कका बलवान् और शक्तिसम्पन्न होना अच्छे ही साहित्यपर अवलम्बित है। अतएव यह बात निर्भ्रान्त है कि मस्तिष्कके यथेष्ट विकासका एक मात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यताकी दौड़में अन्य जातियोंकी बराबरी करना है, तो श्रमपूर्वक, बड़े उत्साहसे, साहित्यका उत्पादन और प्राचीन साहित्यकी रक्षा करनी चाहिये और यदि हम अपने मानसिक जीवनकी हत्या करके अपनी वर्तमान दयनीय दशामें पड़ा रहना ही अच्छा समझते हों, तो आज ही साहित्य-निर्माणके आडंबरका विसर्जन कर डालना चाहिये।

आँख उठाकर जरा अन्य देशों तथा जातियोंकी ओर तो देखिये। आप देखेंगे कि साहित्यने वहाँकी सामाजिक और राजकीय स्थितियोंमें कैसे कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्यने वहाँ समाजकी दशा कुछकी कुछ कर दी है; शासन-प्रबंधमें बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं, यहाँ तक कि अनुदार और धार्मिक भावोंको भी जड़से उखाड़

फेंका है। साहित्यमें जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बमके गोलोंमें भी नहीं पाई जाती। योरपमें हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियोंका उत्सादन साहित्यने ही किया है; जातीय स्वातंत्र्यके बीज उसीने बोये हैं; व्यक्तिगत स्वातंत्र्यके भावोंको भी उसीने पाला, पोसा और बढ़ाया हैं; पतित देशोंका पुनरुत्थान भी उसीने किया है। पोपकी प्रभुताको किसने कम किया है? फ्रान्समें प्रजाकी सत्ताका उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रांत इटलीका मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्यने, साहित्यने, साहित्यने। जिस साहित्यमें इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दोंको भी जिंदा करनेवाली संजीवनी ओषधिका आकर है, जो साहित्य पतितोंको उठानेवाला और उत्थितोंके मस्तकको उन्नत करनेवाला है, उसके उत्पादन और संवर्धनकी चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानांधकारके गर्तमें पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्यकी सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही और आत्महंता भी है।

कभी कभी कोई समृद्ध भाषा अपने ऐश्वर्यके बलपर दूसरी भाषाओं-पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, जैसे जर्मनी, रूस और इटली आदि देशोंकी भाषाओंपर फ्रेंच भाषाने बहुत समय तक प्रभुत्व कर लिया। स्वयं अंग्रेजी भाषा भी फ्रेंच और लैटिन भाषाओंके दबावसे नहीं बच सकी। कभी कभी यह दशा राजनीतिक प्रभुत्वके कारण भी उपस्थित हो जाती है। प्रभुओंकी भाषा जातिकी भाषाको दबा लेती है। तब उसके साहित्यका उत्पादन यदि बंद नहीं हो जाता तो उसकी वृद्धिकी गति मंद जरूर पड़ जाती है। यह अस्वाभाविक

दबाव सदा नहीं बना रहता। इस प्रकारकी दबी या अधःपतित भाषाएँ बोलनेवाले जब होशमें आते हैं तब वे इस अनैसर्गिक आच्छादनको दूर फेंक देते हैं। जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इंग्लैण्ड चिरकाल तक फ्रेंच और लैटिन भाषाओंके मायाजालमें फँसे रहे। पर बहुत समय हुआ, उस जालको उन्होंने तोड़ डाला। अब वे अपनी ही भाषाके साहित्यकी अभिवृद्धि करते हैं, कभी भूलकर भी विदेशी भाषाओंमें ग्रंथ-रचना करनेका विचार नहीं करते। बात यह है कि अपनी भाषाका साहित्य ही जाति और स्वदेशकी उन्नतिका साधक है। विदेशी भाषाका चूडान्त ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्त्वपूर्ण ग्रंथ रचना करनेपर भी विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। अपनी माँको निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशामें छोड़कर जो मनुष्य दूसरी माँकी सेवा-शुश्रूषामें रत होता है उस अधमकी कृतघ्नताका क्या प्रायश्चित होना चाहिये, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तंब ही कर सकता है।

मेरा यह मतलब कदापि नहीं है कि विदेशी भाषायें सीखनी ही न चाहिये। नहीं आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर और अवकाश होनेपर हमें एक नहीं, अनेक भाषायें सीखकर ज्ञानार्जन करना चाहिये। द्वेष किसी भाषासे न करना चाहिये। ज्ञान कहीं भी मिलता हो उसे ग्रहण ही कर लेना चाहिये। परंतु अपनी ही भाषा और उसीके साहित्यको प्रधानता देनी चाहिये, क्योंकि अपना, अपने देशका, अपनी जातिका उपकार और कल्याण अपनी ही भाषाके साहित्यकी उन्नतिसे हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीतिकी भाषा सदैव लोकभाषा ही होनी चाहिये। अतएव अपनी भाषाके साहित्यकी सेवा और अभिवृद्धि करना सभी दृष्टियोंसे, हमारा परम धर्म है।

साहित्य-कला

साहित्यको जो कौशल (Craft) से सर्वदा भिन्न वस्तु मानते हैं, वे उसके साथ कला शब्द जुड़ा देखकर सम्भवतः चौंक सकते हैं। साहित्य क्या कला नहीं है, क्या उसमें कौशलका तत्त्व बिल्कुल नहीं है, कला और साहित्य कहाँ तक साथ चलते हैं, आदि प्रश्न विवेचकके मस्तिष्कमें सहज ही उदित हो सकते हैं।

साहित्य जब तक मूर्त्त रूप (Form) धारण नहीं करता तब तक वह कौशलकी संज्ञा प्राप्त नहीं कर पाता। चराचरकी अन्तरात्मामें बह-कर जब भाव-सौरभ साहित्यकारको अपने भीने झोंकेसे छू देता है और जब वह उस स्पर्शको अपनेमें सम्हाल न सकनेके कारण उसे व्यक्त कर देता है, तभी साहित्यकी सृष्टि होती है। यही अभिव्यंजना साहित्यका मूर्त-रूप कहलाती है। जिस आकृति (Form) में साहित्य हमारे सामने प्रस्तुत होता है, वह साहित्यकारका कौशल कहलाता है। कौशलका ही दूसरा नाम कला है। यदि कला सुन्दर शरीर है तो साहित्य उसमें धड़कनेवाला हृदय है। साहित्य, कलाको जन्म देता है और कला, साहित्यको। मूर्त्त-रूप धारण करनेके पूर्व दोनों भावकी अपेक्षा रखते हैं। भावसे कल्पनाका उदय होता है। वही कल्पना कविता, नाटक, आख्यायिका आदि बनकर साहित्य कहलाती है और चित्र, मूर्ति, इमारत आदिका रूप धारण कर कला। आकृतिकी सूक्ष्मता अथवा स्थूलतामें ही भेद दीखता है। अन्तर-धारा दोनोंकी एक ही है। आगरेका ताज विश्वकी सुन्दर कलाका आदर्श कहा जाता है। उसका सौन्दर्य सर्वथा स्थूल है, पर क्या हम यह नहीं जानते कि उसकी वर्तमान

आकृतिके पूर्व वह शाहजहाँके मस्तिष्कमें अपनी कल्पनाकी तसवीर खींच चुका था और कल्पनाको प्रेरित करनेमें उसकी प्रेयसी मुमताज बेगमके शृंगार-रूपने उसमें कितने मादक भावोंकी हिलोर नही उठाई थी? शाहजहाँके विरह और प्रेमके भाव ताजकी कल्पना कर सकते थे, विरह-गीतकी भी। एक ही भौतिक उपकरण साहित्य और कला दोनोंकी रचना कर सकते हैं। सुकुमार कला साहित्य-उपकरणोंसे बनी होनेके कारण साहित्यको सतत प्रेरित करती रहती है। इसीसे ऊपर कहा है, कि साहित्य कलाको जन्म देता है और कला साहित्यको।

कलाका उद्भव मानव-प्रकृतिकी अनुकरण प्रवृत्तिसे कहा जाता है। यदि अनुकरणसे वस्तुकी स्थूलताका ही बोध हो तो वह कलाके साथ अत्याचार है। वस्तुकी आकृतिके साथ उसकी आत्मा (Spirit) का भी आरोप कलाके साथ करना होगा। कला जितनी ही सूक्ष्म होती जाती है, जितनी ही वह 'अन्तर' को प्रतिबिम्बित करती है, उतनी ही वह साहित्यके निकट आती जाती है। क्या कई बार हमने किसी कलाकृतिको देखकर यह अनुभव नहीं किया, "काश यह चित्राकृति मुसकुरा कर न रह जाती, बोलती भी।" यह चित्रकलाकी कविता कितनी मधुर है! यदि कलाकारने आकृतिके भौतिक अंगोंको रंग कर ही अपनी तूलिकाको अलग रख दिया होता तो क्या हमारा हृदय चित्रित आकृतिके ओठोंसे न स्फुट होनेवाली बोली सुन लेता? एक भावमय चित्र कई भाव-कविताओंको जन्म दे सकता है। एक भावमय कविता कई भाव-चित्रोंको जन्म दे सकती है। इसी तरह एक भावमय चित्र कई भाव-चित्रोंको और एक भावमय कविता कई भाव-कविताओंको जन्म दे सकती है। मानव-प्रकृति भाव-सौन्दर्यपर रीझती है और जब तक उसमें संवेदनशीलता है, तब तक वह उसपर अपना सर्वस्व चढ़ाती

ही रहेगा। हाँ, तो साहित्य और कलामें भेदकी गहरी लाईन खींचना असम्भव है। साहित्य आविर्भूत होते ही कलाका कोई न कोई रूप धारण कर ही लेता है। अतः कलाको हम साहित्यकी भौतिक अभिव्यक्ति कह सकते हैं।

सौन्दर्य-प्रेरणा (Aesthetic Impulse) कलामें मादकता भरती है। रससिद्धिसे सौन्दर्य-प्रेरणाका उदय होता है। भावकी विकसित अवस्था (परिपाकावस्था) का नाम रस है। भाव-जगतमें पहुँच कर कलाकार शिवमय हो जाता है, उसके सम्मुख विश्वका शरीर और उसकी आत्मा दो नहीं रह जातीं। एक भयानक आकृतिधारी आततायी किसी अनाथ अबलापर अकारण आक्रमण कर रहा है। कलाकार अपने चित्रमें आततायीकी काली भयोत्पादक आकृति खींचता है, साथ ही उस सताई हुई स्त्रीकी मनुहारमयी मुद्राको भी चित्रित करता है। चित्रमें दोनोंकी मनोवस्था उतर आती है। कलाकारको अपनी कृतिपर गर्व है। दर्शक उस चित्रको देखकर मुग्ध हो जाता है क्योंकि उसमें भावोंका पूर्ण विकास उसे दीखता है। यद्यपि आततायीका बाह्य तथा अभ्यन्तर भोंड़ा है, अप्रिय है, फिर भी दर्शक कहता है, चित्र सुन्दर है। क्योंकि वह उसे अपनी ओर खींचता है—आकर्षित करता है।

सौंदर्यका प्रधान गुण आकर्षित करना है। कलामें आकर्षण है, इसीलिये वह सुन्दर है—चिर सुन्दर है। विश्वकी सारी कुरूपता उसकी दुनियामें आकर सुन्दर बन जाती है। दुनियाके समस्त व्यापार उसे भाते हैं। उसके लिये मन्द मुसकुराहट भी मधुर है। उसके आँगनमें पूनोंकी रात भी अमृत बरसाती है, कुहूकी निशा भी मधुकी अजस्र झड़ी लगाती है।

साहित्य और कलामें व्यक्तिकी भावना ही मूर्त्तरूप धारण नहीं करती समाज, देश और विश्व भी उसमें झाँकता है। समयकी भावनाका प्रस्फुटित होना ही युग-धर्म कहलाता है। प्रगतिशील साहित्य-कलामें युग-धर्मका ही प्राधान्य होता है। युगकी पुकार सुन कर कलाकार कल्पनाके स्वर्गलोकसे उतर कर यथार्थके भूलोकपर आकर खड़ा हो जाता है और भौतिक संघर्षोंमें अपनेको तन्मय बनानेका प्रयत्न करता है। यदि युगकी आत्मा उसकी कृतिमें बोलती है तो वह सामयिक रंगके साथ भी स्थायी कला बन जाती है। केवल युग-विचारोंका संवेदन-हीन चित्रण प्रगतिशील साहित्य और कलाका उपहास मात्र है। कला आजकी ही वस्तु नहीं है वह सदा आनेवाले कलकी भी वस्तु है और होनी चाहिये। तभी युग-धर्मकी रक्षा हो सकेगी और प्रगतिशील कृतिपर विस्मृतिकी धूल न जम पायेगी।

कलामें सौन्दर्यका आदर्श

सौन्दर्यका कोई निश्चित आदर्श नहीं। मनुष्यकी बुद्धि और वृत्तिके अनुसार उसका स्वरूप बदलता जाता है। हमारे किसान भाइयोंको चिल्ला-चिल्लाकर, नगाड़े बजा-बजाकर नौटंकी गानेमें सौंदर्यका जो आस्वाद प्राप्त होता है, उससे शिक्षित भाइयोंका जी मतला उठता है। इसके विपरीत जब कोई कलावंत वीणामें कोई जटिल राग बजाता है, तो उस्ताद लोग वाहवाही देने लगते हैं; पर हमारे किसान भाई उसे सुनकर मनमें यह धारणा करते हैं कि यह बाबू लोगोंकी खामख्यालीके सिवा और कुछ नहीं। उन्हें उसमें कोई रस नहीं मिलता। किसानोंकी बात दूर रही, शिक्षित भाइयोंमें अधिकांश रसज्ञ ऐसे मिलेंगे जिन्हें गज़लोंकी गलेबाजी और 'अर्थ-चमत्कार' के आगे राग-रागिणीकी विचित्र स्वर-लहरी तुच्छ जान पड़ती है। पर राग-रागिणीके स्वर-वैचित्र्यके अनुपम रससे जिनका मन भींग गया है, उन्हें ग़जलोंसे कितनी नफ़रत हो जाती है, विशेषज्ञोंको यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं।

स्त्रीके रूपके सम्बन्धमें भी यही बात कही जा सकती है। अशिक्षित लोगोंमेंसे अधिकांश ऐसे मिलेंगे, जो अपेक्षाकृत गोरे रंगवाली स्त्रीको ही रूपवती समझ बैठते हैं, भले ही वह फूले गालवाली अथवा चिपटी नाकवाली हो। शिक्षित सम्प्रदायमें भी ऐसे लोगोंकी संख्या अधिक पाई जायगी, जो ऐसी स्त्रीको रूपवती समझेंगे जो गोरे रंगकी हो, और जिसकी नाक और गाल बहुत कदाकार न हों। जिस व्यक्तिकी रुचि इससे कुछ बढ़ जायगी, वह स्त्रीकी आँखोंके सौंदर्यका भी ख्याल करेगा— वे बड़ी हैं या छोटी, गोल हैं या कैसी हैं। पर रुचिके विकासका अन्त

नहीं। जिसकी रुचि इससे भी बढ़ी-चढ़ी होगी, वह स्त्रीके सौंदर्यपर और भी सूक्ष्म रूपसे विचार करेगा कि उसकी आँखोंसे बुद्धिमत्ता टपकती है या फूहड़पन। पर कविकी रुचि इस सम्बन्धमें सबसे अधिक पूर्णताको प्राप्त होती है। वह इन सब बातोंका खयाल करते हुए मुख्यतः इस बातपर गौर करेगा कि उसकी आँखोंमें करुणा तथा स्नेहका भाव झलकता है या नहीं। बुद्धि, करुणा तथा स्नेहसे रहित सौंदर्यको वह अत्यंत घृणित समझेगा। वेश्याका हृदयहीन अनुपम शारीरिक सौंदर्य इसीलिये उसके हृदयपर असर नहीं कर सकता। प्राकृतिक सौंदर्यका भी यही हाल है। पूर्णिमाकी ज्योत्स्ना शिक्षित तथा अशिक्षित, सभी व्यक्तियोंको प्रिय मालूम देती है। पर अमावसका निबिड कृष्णरूप उच्च श्रेणीके कविके अतिरिक्त और कौन देख पाता है?

कोयलकी कूक सभीको मीठी लगती है। पर सारसके कर्कश कंठके मद-कूजनका रस कालिदासकी-सी प्रकृतिवाले कविके अतिरिक्त और कौन ले सकता है? और तो क्या, विशेष-विशेष अवसरोंपर कौओंके कल-कल-कल्लोलसे भी कालिदास तृप्त होते थे। मेघदूतमें इसका उल्लेख है। इसका कारण क्या है? जिस प्रकार वेश्याका पूर्णताप्राप्त शारीरिक सौंदर्य सहृदयताहीन होनेसे कविको नहीं भाता, उसी प्रकार किसी किसी अवसरपर कोयलकी कूककी मिठाससे उसका जी नहीं भरता, उसे दुःख तथा अंधकारके कड़वे रसकी चाह होती है। इसी कारण केका-रव, कपोत-कूजन और सारसकी बोलीमें उसे स्वाद मिलता है। वसंतकी बहारका मज़ा सभी लूटते हैं। उसके सौंदर्यके सम्बन्धमें किसीको द्विधा या संशय नहीं होता। पर आषाढ़के प्रथम दिवसमें रामगिरिसे 'वप्रक्रीड़ापरिणतगजप्रेक्षणीय' मेघका अनुपम सौंदर्य देख-कर केवल कालिदासकी प्रकृतिके कवियोंका मन ही उछलता है।

रवीन्द्रनाथ भी अनेक समय वसंतकी मद-विह्वलतासे उकताकर घनघटा-च्छन्न मेघकी निबिड़ कालिमाके प्रति आकर्षित हुए हैं, और कूजन-गुंजनसे ऊबकर रुद्रका वज्रमंत्र सुननेके लिये लालायित हुए हैं। 'वर्षशेष' शीर्षक एक कवितामें वह लिखते हैं—

एबार आसोनि तुमि वसंतेर आवेश-हिल्लोले
पुष्पदल चूमि,
एबार आसोनि तुमि मर्मरित कूजने-गुंजने,
धन्य धन्य तुमि।
रथचक्र घर्घरिया एसोछो विजयी राजसम
गर्वित निर्भय,
वज्रमन्त्र कि घोषिले बूझिलाम, नाहिं बूझिलाम
जय तव जय।

"इस बार तुम वसंतका आवेश-हिल्लोल साथमें लेकर, पुष्पदलोंको चूमते हुए नहीं आये, इस बार तुम मर्मरित कूजन-गुंजनके साथ नहीं आये, हे नव वर्ष, तुम धन्य हो! तुम अपना रथ-चक्र घर्घरित करके विजयी राजाकी तरह गर्वित तथा निर्भय होकर आये हो, तुमने अपने वज्रमें क्या मन्त्र घोषित किया, यह मैं समझकर भी नहीं समझा। तुम्हारी जय हो।"

रुद्रका यह जो दिल दहलानेवाला, आंतकसे कम्पित करनेवाला, प्रलयका तांडव-नृत्य मचानेवाला भीषण रूप है, इसका अनिर्वचनीय सौंदर्य कितने देख पाते हैं? हमारे शृंगार-रसिक कवि वसंतका अपमान करनेवाले इस कविको अवश्य ही पागल समझेंगे। पर कालिदास, गेटे और रवीन्द्रनाथकी तरह जिन महाकवियोंकी आत्माएँ मानव-जीवनके दुःखमय रसमें पूर्ण रूपसे डूब गई हैं, वे अन्य रसोंका स्वाद लेते हुए भी इस

वज्र-कठिन रससे ही तृप्त होते हैं, इस रसमें ही उन्हें सौंदर्यका अपूर्व आदर्श दिखलाई देता है। कुछ भी हो, हमारे कहनेका तात्पर्य यही है कि सौंदर्यका कोई निश्चित आदर्श नहीं। मनुष्यकी रुचिका विकास पूर्णताकी ओर जितना बढ़ता जाता है, सौंदर्यके सम्बन्धमें भी उसकी धारणा उसी रूपमें जटिल होती और बदलती जाती है। यह धारणा कभी कभी इतनी उद्भट हो जाती है कि साधारण मनुष्य भ्रांतिसे विमूढ़ होकर चकित रह जाता है। टाल्स्टाय और रवीन्द्रनाथका कहना है कि किसानोंके छल-रहित, सभ्यताके ढकोसलेसे हीन, प्राकृतिक सरलतासे स्निग्ध, हृदयकी जो आभा अनेक चेहरोंपर झलकती है, उसका सौंदर्य स्त्रीके सौंदर्यकी तरह सरस है। कालिदासकी भी यही धारणा है। उन्हें हमें अश्लीलताका पुजारी और बाजारू कवि ही समझ लिया है। पर वह सौंदर्यके समस्त रूपोंमें उसका रस लेना जानते थे। हम तो उन्हें एक श्रेष्ठ योगी समझकर नित्य मन ही मन प्रणाम करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि वह यौवन-मद-मत्ता, विलासिनी, ललित वनिताओंके रूपपर मुग्ध हुए हैं; पर भ्रू-विलासानभिज्ञ कृषक-रमणीका सरल सौंदर्य भी तो वह देख पाये हैं—

> त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
> प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।

"कृषिका फल तुम्हारे ही अधीन होनेसे तुम्हें भ्रकुटि-रचनाका कौशल न जाननेवाली, सरल स्वभाववाली ग्रामीण वधू प्रीति-स्निग्ध दृष्टिसे देखेगी।"

कैसा सरल, स्निग्ध, आडंबरहीन, स्वाभाविक, मधुर भाव इन दो पंक्तियोंमें भरा है। ऐसे ही कवि अनेक रूपोंकी सौंदर्य-छटासे आँखोंको तृप्त करके अंतको एक रूपमें मिलित सौंदर्यके लिये लालायित होते हैं।

ऐसे कवि धन्य हैं ! ऐसे कवि योगी हैं, अलकापुरीका आनंदमय राज्य ऐसे ही सर्वदर्शी सर्वप्रेमी कवियोंके लिये है।

मेघदूत काव्यको यदि हम सौंदर्य-कलाकी प्रदर्शिनी कहें, तो अनुचित न होगा। इस काव्यके श्लोकोंमें सौंदर्यके अनेकानेक भिन्न-भिन्न रूप प्रस्फुटित किये गये हैं। इसका प्रत्येक श्लोक विशेष-विशेष रूपके सौन्दर्यको व्यंजित करता है। सौंदर्य किन किन स्वरूपोंमें अपनेको व्यक्त कर सकता है, इस काव्यमें यही दिखलाया गया है। जिस प्रकार अव्यक्तके एकमेवाद्वितीय रूपसे अनेकानेक रूप फूट निकले हैं, उसी प्रकार निबिड़ कालिमा-लिप्त वर्षा ऋतुके एक रूपसे अभिनव सौंदर्य-मंडित कितने ही भिन्न भिन्न रूपोंकी अभिव्यक्ति होती हैं। पूर्व मेघमें यही दिखाया गया है। आरंभमें ही—

मन्दं मन्दं नुदितपवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगर्वः । *

तथा—

आकैलासाद्विसकिसलयच्छेदपाथेयवंतः
संपत्स्यंते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः । ×

इस ढंगसे सौंदर्य-लोकगामी मेघकी यात्रा प्रीतिपूर्ण बिदाईके साथ मंगलमय कल्याणसे अभिषिक्त होती है। इसके बाद सौंदर्यकी लहरीपर लहरी इठलाती, बल खाती हुई नाचती चली जाती है। सबसे पहले यक्षके प्रवास-स्थान चित्रकूटमें ही सौंदर्यकी यह विचित्र प्रदर्शिनी आरंभ होती है। चित्रकूटके सम्बन्धमें यक्ष मेघसे कहता है—

---

* अनुकूल वायु तुझे मंद मंद डुला रही है, और तेरे वामपार्श्वमें चातक गर्वके साथ कूजन कर रहा है।

× कमलकी नालको पाथेयके रूपमें ले जाते हुए राजहंस कैलास-पर्यंत तेरा साथ देते रहेंगे।

काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ।

समय समयपर (प्रतिवर्ष) तुम्हारा संयोग प्राप्त होनेसे सुदीर्घ विरहके कारण तुम्हारा जलके रूपमें उष्ण भाप छोड़कर अपना स्नेह व्यक्त करता है । इस भावमें कैसा अनुपम सौंदर्य है ! जब पदार्थ-वर्णनमें ही कविने सजीव मनुष्यके हृदयसे भी अधिक करुणा-पूरित स्नेह प्रस्फुटित किया है, तब जीवित प्राणियोंके सम्बन्धमें कहना ही क्या है ! इसके बाद रत्नच्छायाव्यतिकर (रत्नोंके रंग-विरंगी कांतियोंके समूह) के समान इन्द्रधनुषकी छटाका सौंदर्य दिखलाया गया है । यक्ष कहता है, इन्द्रधनुषकी आभासे तेरा श्याम शरीर गोपधारी कृष्णके मोरके रंग-विरंगे पंखोंके समान शोभित होगा ।

फिर आगे चलकर पृथ्वी माताके स्तनके समान स्थित आम्रकूट-पर्वतके वनचर-वधुओंके द्वारा सेवित कुंजका वर्णन करके यक्ष कहता है—

रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम् ।

विंध्य-पर्वतके उपल-विषम पाद-मूलमें विशीर्ण (थकित) हुई रेवा नदीको देखेगा । सौंदर्यकी अनिर्वचनीयताकी हद हो गई । पर्वतके तट-प्रांतमें बड़े-बड़े भारी पत्थरोंके आघातसे थकित हुई नदीको व्रजवनिताकी तरह खिन्न बतलाकर कविने प्राकृतिक श्रृंगार-रसकी मोहिनी बरसा दी है । इस प्राकृतिक लीलामें जो रस है, वह किसी कामिनीकी कमनीयतामें नहीं पाया जा सकता । वही सौन्दर्य एक दूसरी जगह प्रस्फुटित हुआ है—

तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात्
सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ।

तटप्रांतमें शिलाभिघातके कारण मधुर गर्जन करनेवाली, चंचल उर्मिके कारण विलास प्रदर्शित करनेवाली वेत्रवती नदीका सलिल-रूपी अधर-सुधा पान करेगा ।

वन-गजके मदसे वासित, जंबू-कुंजके तीरमें बहनेवाले जलको ग्रहण करता हुआ, सारंगोंसे सूचित मार्गसे होकर चलता हुआ, सजल-नयन मोरों द्वारा अभिनंदित होकर विश्राम करता हुआ, बन-नदियोंमें पानी बरसता हुआ, उद्यानोंमें अपने नव-जलकणोंसे यूथिका-जालकोंको सेचन करता हुआ, गालोंमें उत्पन्न हुए स्वेद-कणोंको बार बार पोंछनेसे क्लांत कर्णोत्पलवाली मालिनोंको शीतल छाया प्रदान करके उनसे क्षण-कालके लिये परिचित होकर जब मेघ मंद मंद गतिसे चला जाता है, तो उस दृश्यमें कितना अनुपम सौंदर्य नहीं भरा रहता! अभिराम सौंदर्यकी कैसी अविराम धारा बही जा रही है। केवल रमणीके रूप और उसकी विलासितामें ही सौंदर्य नहीं है। प्यासोंको पानी पिलानेमें, उत्कंठितोंको दिलासा देनेमें, तप्तोंको छाया प्रदान करनेमें जो माधुर्य है, उसके आगे कोई सौन्दर्य ठहर नहीं सकता।

स्वार्थसे अधिक सौन्दर्य परमार्थमें है, और परमार्थसे अधिक मनोहरता अनन्तके प्रति उद्देश्यहीन श्रद्धांजलि प्रदान करनेमें है। इसी कारण जब यक्ष मेघको सन्ध्याके समय उज्जयिनीके महाकाल-मन्दिरमें, पूजाके अवसरपर अपने मधुर गर्जनसे नगाड़ा बजानेका उपदेश देता है, तो इस भावमें भी अपूर्व सौंदर्य स्थित है। केवल यही नहीं। उत्सवके भावमें रमणीयता अवश्य है पर युद्धमें लड़नेवाले वीरोंके सिरोंके सरासर धड़से अलग होनेमें भी सौंदर्य है। सामान्य कवि इस दृश्यमें बीभत्सता देखेंगे, पर श्रेष्ठ कविको यह दृश्य भी नयनानंदन प्रतीत होता है। इसलिये कवि लिखते हैं—

राजन्यानां सितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि।

(ब्रह्मावर्तप्रदेशमें) गाण्डीव-धनुष्यधारी अर्जुनने शत-शत तीक्ष्ण बाणोंकी वर्षासे राजाओंके सिर उसी तरह पृथ्वीमें गिराये, जिस प्रकार

तुम अविरल धारा-पातसे कमलोंको बरसाकर नीचे गिराते जाते हो। इस सौंदर्य-पिपासु कविकी रुचि कितनी विकसित हो गई है कि वह सर्वत्र सौंदर्य देखता है। कोमलतामें और काठिन्यमें, विलासितामें और वीरत्वमें, प्रकाशमें और अंधकारमें, जीवनमें और मृत्युमें, पापमें और पुण्यमें वह सौंदर्यके प्रति ही दृष्टि रखता है।

ऊपर जिस सौंदर्यका वर्णन किया है, वह सुख-दुख, आशा-नैराश्य, हास्य-क्रंदन, इन द्वन्द्वोंसे जर्जरित पृथ्वी माताका सौंदर्य है। पूर्वमेघका सम्पर्क पृथ्वी-तलसे है। पर उत्तर मेघका सौंदर्य इन सब द्वन्द्वोंसे परे है। उसमें सौंदर्यके नाना रूप एक आनंदमय रूपमें आकर मिलित हो गये है। वह स्वर्गका सौंदर्य है। उस सौंदर्य-लोकमें क्षुधा-तृषा, पाप-ताप, जरा-मृत्युकी हाय-हत्या सुननेमें नहीं आती। वहाँके सम्बन्धमें कहा गया है—

'आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तैः'

वहाँ आनंदके कारण ही आँसू उमड़ते हैं, अन्य कारणोंसे नहीं। पर पृथ्वीके सौंदर्यमें,

पुष्पे कीटसम हेथा तृष्णा जेगे रये,

फूलमें कीड़ेकी तरह तृष्णा जगी रहती है।

हर्षकी बात है कि हिन्दीके कवि भी सौंदर्यके इस उच्च आदर्शका अनुभव करने लगे हैं। 'विशाल भारत' की किसी एक संख्यामें एक नवीन कविकी 'सौंदर्य' शीर्षक कविता छपी थी। कवि लिखता है—

बहती है सौंदर्य-सुधा उस राजमार्गके तटपर,
जहाँ खड़ी भिक्षाको दुखिया, अंचल मलिन बढ़ाकर।

कैसा सुन्दर भाव है! यह भाव चाहे पहले कितने ही कवि व्यक्त कर चुके हों, पर इसका सौंदर्य कभी पुराना नहीं हो सकता।

राजमार्गमें कितने बड़े-बड़े धनी और मानी व्यक्ति चलते हैं, कितनी ही धनी परिवारोंकी सुन्दरी स्त्रियाँ आती-जाती हैं; पर निष्कपट हृदयकी सरल आँखोंमें उसकी शोभा केवल एक उपेक्षिता, दीना, मलिना भिखारिणीको लेकर है।

रूप कुरूप हुआ जाता है उस शोभाके आगे,
जहाँ निधनके धन दो बालक सोते सोते जागे।

इसमें अत्यंत सरलताके साथ गुप्त सौंदर्यका स्वच्छ स्रोत बहाया गया है। निधनके धन, भगवानके पोष्य दो बालक—दो भाई—ऊषाका निर्मल हास्य व्यंजित करके अरुणोदयकी तरह जाग रहे हैं। राफ़ेलके 'मेडोना'के चित्रोंकी अपूर्व छाया इस भावमें झलकती है। इस भावमें मौलिकता भी यथेष्ट है—

सुन्दरताकी सीमा देखो, उल्लंघित उस थल है,
श्रमित कृषकके कृश शरीरसे जहाँ बरसता जल है।

यह बात मौलिक न होनेपर भी सुन्दर है।

बरस रही अविराम मोहिनी, उस छायाके नीचे,
पतिताके अनुताप कणोंने जहाँ कमल-दल सींचे।

हृदयकी कोमल करुणा और आत्माकी अनुपम उदारताका जो अभिनव सौन्दर्य वहाँ व्यक्त हुआ है, वह अनन्य है। रवीन्द्रनाथकी 'पतिता' कविताका भाव इसमें पाया जाता है। कवितासे यद्यपि कविकी श्रेष्ठताका परिचय नहीं मिलता, पर उसकी सहृदयता टपकती है।

अन्तमें हम फिर यह कहना चाहते हैं कि सौंदर्यका कोई निश्चित मापदंड न होनेपर भी उसका झुकाव और विकास एक विशेष आदर्शकी ओर होता है। वह आदर्श है आत्मा, हृदय और मस्तिष्कका संयोग; सुन्दर, मङ्गल और सत्यका सामंजस्य।

कला और जीवन

रातको कितनी ही दुश्चिन्ताओंको लेकर मैं सोने गया था। किसीका तिरस्कार, किसीकी अवज्ञा, किसीका अपमान यही सोचते सोचते मैं सो गया था। एक तो दिनमें सूर्यके तापसे हम लोग यों ही सन्तप्त हो जाते हैं, फिर कार्यकी व्यग्रताके साथ यदि किसी तरहका मानसिक कष्ट हुआ तो उद्वेग और भी अधिक हो जाता है। रातमें भी दुःस्वप्न होते हैं। पर उस दिन जब मैं सोकर उठा, तब न मुझे कोई चिन्ता थी, न कष्ट। खूब वर्षा हो रही थी। वर्षा-ऋतुमें मेघोंकी श्याम घटा आपसे आप मनमें औत्सुक्यपूर्ण भावोंकी एक घटा ला देती है। पतनकी चंचल गति मनको अस्थिर कर देती है। जलकी तरंगें हृदयमें भावोंकी तरंगें उत्पन्न कर देती हैं। उस दिन जब मैं प्रातःकाल सोकर उठा, तब मेरे मनमें एक उमङ्ग-सी उठ रही थी। मैं एक अनिर्वचनीय भावसे पुलकित हो उठा। मुझे ऐसा जान पड़ा कि मैं शान्ति, सुषमा और आनंदके एक अलसित राज्यमें प्रविष्ट हो गया हूँ। मैं खिड़की खोलकर प्रकृतिकी शोभा देखने लगा। वर्षाके उल्लासमें प्रकृतिकी अपूर्व छटा हो जाती है। नदी कितनी उमङ्गसे बह रही थी। वह मानो अपने आनन्दके वेगको रोक नहीं सकती थी। हरे हरे वृक्ष, हरी हरी लताएँ और हरी हरी भूमि—सभी प्रफुल्ल प्रतीत होते थे। जैसे अब किसीके लिये कोई ताप नहीं, कोई बाधा नहीं। सभी ओर स्वच्छन्दताका साम्राज्य हो गया था। रह रहकर बिजली चमक उठती थी। बादल गरज उठता था और पवनके जल-मिश्रित झोंके आ जाते थे। मैं भी अकारण अपनी सारी चिन्ताएँ छोड़कर पद्माकरका एक कवित्त पढ़ने लगा:—

चंचला चमाकै चहुँ ओरनते चाह-भरी,
चरजि गई थी फेरि चरजन लागी री।

कहै पद्माकर लवंगनकी लोनी लता,
लरजि गई थी फेरि लरजन लागी री।

कैसे धरौं धीर वीर त्रिविध समीर तन,
तरजि गई थी फेरि तरजन लागी री।

घुमड़ि घमंड घटा घनकी घनेरी अबै,
गरजि गई थी फेरि गरजन लागी री॥

यही तो जीवनका रस है, यही तो जीवनकी कला है, यही तो जीवनकी आनन्दमयी स्थिति है। प्रकृतिके राज्यमें सदैव यौवनका उल्लास है, चिर-नवीनता है, चिर-सौंदर्यकी सृष्टि है। तब हम लोगोंका संसार कितना तुच्छ और कितना हेय हो जाता है। पर ज्यों ही मैं बाहर जानेके लिये तैयार हुआ त्यों ही मुझे स्मरण हुआ कि मेरे पास छाता नहीं है। ऐसी वृष्टिमें छाता न रहनेसे भावमय सौंदर्यकी तो अवश्य अनुभूति हो सकती है; पर कर्ममय जीवनका काम नहीं चल सकता। मैं रानूदानसे छाता लेकर घरसे बाहर निकला।

सड़कपर छल-छल, कल-कल कर जलके जो छोटे-छोटे प्रवाह बहने लगे थे, उनके स्वरमें जो संगीतमय मधुरता थी, वही उनकी क्षिप्र गतिमें भी थी। सड़कपर कितने ही बालक स्वच्छन्दतापूर्वक खेल रहे थे। वर्षा-ऋतुका यथार्थ रस वही पा रहे थे। तब तक मैं बागची साहबके घर तक पहुँच गया। देखा, जयंती स्थिर दृष्टिसे न जाने क्यों आकाशकी ओर देख रही थी। मुझे तो ऐसा जान पड़ा कि वर्षा-कालकी प्रकृति-लक्ष्मीने इसी बालिकाका रूप धारण कर लिया है। तभी तो उसकी निबिड केशराशि और सुदीर्घ नेत्रोंमें मेघ-घटाकी कालिमा थी, मुखपर प्रफुल्ल

कमलकी लालिमा थी और परिधानमें पृथ्वीकी हरीतिमा थी। उसी समय शंकरका अचानक निमंत्रण पाकर ज्यों ही मैं कमरेके भीतर गया, त्यों ही नमिताने कहा—" मास्टरजी, आज तो छुट्टी होना चाहिये। ऐसी वर्षामें कौन पढ़ेगा?" नमिताका कथन बिलकुल सच था। प्रकृतिके इस महोत्सवमें यदि हम सम्मिलित नहीं हो सकते, तो हमारे जीवनमें उत्सव-काल कब आवेगा? मैंने कहा—" चार दिनोंके बाद ही तो तुम्हारी परीक्षा है।" परीक्षाका नाम लेते ही नमिता चिन्तामें डूब गई। तब उसने अनुभव किया कि जीवनमें उत्सवके ही दिन नहीं है, परीक्षाके भी दिवस होते हैं। वह चुपचाप किताब लेकर बैठ गई और पढ़ने लगी।

पर बाहर वर्षाकी गति नहीं रुकी। कभी कभी अपनी इस लीलाको क्षणभर रोककर वह भी मानो मनुष्योंके तुच्छ कार्योंपर निर्लिप्त दृष्टिपात करती थी और फिर खिलखिलाकर अपनी लीलामें मग्न हो जाती थी। स्कूलका काम समाप्त हुआ। रात हो गई। अँधेरा छा गया। पर वर्षा बंद नहीं हुई। उसकी गति अवश्य मंद हो गई। क्रमशः अन्धकार बढ़ता ही गया। चारों ओर निशाकी निःस्तब्धता छा गई। मुझे वह अंधकार बड़ा ही रहस्यमय प्रतीत होने लगा। निशाके इस निबिड अन्धकारमें भय और शंकाके साथ प्रेम और वेदनाके भी भाव विलीन रहते हैं। तभी तो जयदेवने कहा है—

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै—
नक्तं भीरुरयं तदेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुंजद्रुमे
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः॥

मेघाच्छन्न आकाश, अन्धकारमय पथ, नदीतट, प्रेमकी व्यग्रता, औत्सुक्यपूर्ण प्रतीक्षा, सौंदर्यका रहस्यमय अवगुण्ठन, नूपुर-ध्वनि

आदिसे युक्त कल्पना-जगत्‌के निकुंजोंमें मैं भी न जाने कब सो गया। सहसा लोगोंका कोलाहल सुनकर मैं जाग पड़ा। मालूम हुआ कि नदीकी बाढ़ मेरे घर तक आ गई है। सभी लोग भाग रहे हैं। कुछ देरके बाद बाढ़के और अधिक बढ़ जानेसे मैं भी अपने घरके सब लोगोंको लेकर सेठ मेघराजजीके घर पहुँचा। वहीं हम लोग रात-भर रहे। नगरके कितने ही लोग अपना अपना घर छोड़कर इसी मुहल्लेमें आ गये थे। इस समय मेरे हृदयमें जो भावनाएँ उठ रही थीं, उन्हें मैं ही समझ सकता हूँ। शिक्षित और मध्यवित्त गृहस्थ होनेके कारण मैं अपने अभावोंके कारण एक ग्लानियुक्त उत्तापका अनुभव कर रह था। पक्का घर न होनेके कारण ऐसे कुसमयमें मुझे घर छोड़ना पड़ा। सेठजीकी कृपाके कारण मेरे घरवालोंको कष्ट अवश्य नहीं हुआ; पर मैं अपने मनमें एक अशान्ति, एक असंतोष और व्यथाका अनुभव कर रहा था। वहीं कुछ गरीब लोग भी आ गये थे; पर उन्हें कष्ट होनेपर भी कोई दुश्चिन्ता नहीं थी।

दूसरे दिन मैं घर आया। नगरका दृश्य सचमुच भयावह था। कितने ही मकान गिर गये। सभी मिट्टीके मकान थे, और उनमें गरीब लोग ही रहते थे। राजा साहबकी आज्ञासे वे सब स्कूलों और अन्य स्थानोंमें रहनेकी जगह पा गये। उन्हें अनाज देनेका भी प्रबन्ध हुआ और मकान बनानेके लिये कुछ रुपये भी दिये गये। स्कूल बन्द हो गया। नगरमें जब कोई विपत्ति आती है, तब उसका दुष्परिणाम गरीबोंके ही जीवनमें देखा जाता है। दुर्भिक्षमें वही मरते हैं। रोगोंका प्रकोप होनेपर उन्हीका संहार होता है। बाढ़ या भूकम्पमें उन्हीका सर्वनाश होता है। युद्धमें भी उन्हीकी अधिक हत्या होती है। फिर भी संसारमें उन्हीकी संख्या सबसे अधिक होती है। घासकी तरह वे ही सबसे अधिक बढ़ते हैं और सबसे अधिक नष्ट भी होते हैं। संसारमें हम लोग

जिसे सुख मानते आये हैं, उस सुखको तो वे जानते ही नहीं। उस सुखपर तो कुछ श्रीमानोंका ही अधिकार रहता है। फिर भी यह बात नहीं है कि वे आनंदका अनुभव ही नहीं करते। मेरी तो साधारण स्थिति है। मैं दरिद्र नहीं कहा जा सकता, परन्तु जो सचमुच गरीब हैं, उनके साथ मैं बराबर रहता आया हूँ। उन झोंपड़ोंमें आनंदकी वही उज्जवल ज्योति है, जो सूर्यके प्रकाशमें है, और जो उनके आंगनमें पड़ता है। उनकी आवश्यकताएँ थोड़ी ही हैं, इसीसे वे थोड़ेमें ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। वे जिस आनंदके साथ रुखा-सूखा भोजन करते हैं और चीथड़ोंमें सोते हैं, वह श्रीमानोंको सचमुच दुर्लभ है।

नगरोंमें श्रीमानोंके विलास और ऐश्वर्यकी ओर जनतामें जो असंतोषकी भावना बढ़ रही है, वह यथार्थमें गरीबोंकी भावना नहीं है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि वह भावना है मुझ-जैसे शिक्षित मध्यम श्रेणीके लोगोंकी। मेरे ही घरके नज़दीक जो दरिद्र रहते हैं, उनसे मैंने अपनी तुलना कभी नहीं की है। उनकी अवस्था अवश्य हीन है; पर उन लोगोंने 'आत्मके ज्ञानका फल' अभी तक नहीं चखा है। इसीसे उनके जीवनमें सरलता है, सन्तोष है, सहिष्णुता है और स्नेह है। उनमें नगरोंकी बुभुक्षा और लोलुपता नहीं है। पर मैं तो ज्ञानका फल चख चुका हूँ। मेरी तो आवश्यकताएँ बढ़ गई हैं। जब मैं अपनी आवश्यकताओंकी ओर ध्यान देता हूँ, तब मुझे यह स्पष्ट ज्ञान होता है कि मुझे अपने अभावोंकी पूर्तिके लिये जो कष्ट उठाना पड़ता है, वह उन्हें अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये नहीं उठाना पड़ता। मैंने देखा कि बाढ़के दूसरे ही दिन अधिकांश लोग अपने-अपने कामोंमें निश्चिन्त हो कर लग गये। पर मैं अपनी स्थितिसे चिन्तित हूँ, त्रस्त हूँ और उद्विग्न हूँ। केवल दो धोतियों और बासीपर निर्भर रहनेवाली देवकुँवरको मैंने कभी उदास ही नहीं

देखा। सोनकुँवरको भी मैंने सभी स्थितियोंमें प्रसन्न देखा। आश्चर्यकी बात तो यह है कि सुमरितके घरमें सोकर मुझे भी कोई कष्ट नहीं हुआ। मैंने भी वहाँ एक शान्तिपूर्ण उल्लासका अनुभव किया। यह सच है कि हम लोग अपनी आवश्यकताओंको स्वयं बढ़ाकर उनकी पूर्ति न होनेसे चिन्तित और दुःखित होते हैं। पर शिक्षा और सभ्यताके प्रसारने मेरी इन कृत्रिम आवश्यकताओंको बिल्कुल स्वाभाविक बना दिया है। मैं नहीं समझता कि मैं विलासप्रिय हूँ। मैं अपनेको अमितव्ययी भी नहीं समझता, पर यह सच है कि खैरागढ़ ऐसे छोटे ग्राममें भी अपनी आवश्यकताओंकी वृद्धिके कारण मेरा निर्वाह नहीं हो रहा है। यही हाल मेरे ही समान मध्यम श्रेणीके कितने ही अन्य गृहस्थोंका है। तभी तो हम सभी अपनी तुलना बड़ोंसे करते हैं और उनका ऐश्वर्य देखकर अपनी दशासे असन्तुष्ट होते हैं।

आजकल समताका सिद्धांत जो प्रचलित हो रहा है; उसका आधार प्रेम नहीं, यही सम्पत्ति और प्रभुत्व है। वैज्ञानिकोंके ज्ञान और नीतिज्ञोंकी नीति दोनोंका लक्ष्य इसी सम्पत्ति और प्रभुत्वकी वृद्धि है। उसीके कारण जीवनमें संघर्ष और देशमें युद्ध है। यन्त्रोंकी वृद्धि हो रही है उद्योगोंकी उन्नति हो रही है, व्यवसायोंका विस्तार हो रहा है; पर उन्हीके साथ राष्ट्रोंमें संघर्ष भी बढ़ रहा है, देशके भीतर अशान्ति भी फैल रही है। यदि सचमुचमें हममें समताका भाव आ जाय, तो यही संसार स्वर्ग हो जाय। पर एक मात्र सम्पत्तिको ही प्रधानता देकर हम लोगोंमें जो एक असंतोष और अशान्तिकी प्रबलता हो रही है, वह क्या हमें सचमुच सुख और शान्तिके पथमें ले जा रही है?

इन्हीं चिन्ताओंमें व्यस्त रहकर जब मैं सन्ध्या समय नदी-तटपर पहुँचा,

तब देखा कि वहाँ कैसी शान्ति है, कैसी शोभा है, कैसा माधुर्य है! रात्रिकी भयानकता न-जाने कहाँ विलीन हो गई थी। नदी कल-कल कर बहती जा रही थी। वृक्षोंपर पक्षी कलरव कर रहे थे और कुछ नदीमें ही विहार कर रहे थे। पवन भी मन्द-मन्द गतिसे बह रही थी। सूर्यास्तके कारण आकाश बहुवर्णरंजित हो गया था। सर्वत्र सौन्दर्यका एक अप्रतिम राज्य था। यहीं तो हम सच्ची शांतिका अनुभव करते हैं। पर क्या मूक प्रकृतिमें ही यह सौंदर्यमय जीवन है? क्या मनुष्योंके जीवनमें अभावोंके ही कष्ट और चिन्ताओंकी ही वेदनाएँ हैं? उसमें क्या कहीं विशुद्ध सौंदर्य, विशुद्ध आनन्द या विशुद्ध मुक्तिकी अवस्था नहीं है? बाह्य जगत्‌में जिस अलक्षित शक्ति द्वारा अलौकिक सौंदर्यकी सृष्टि होती है, उसने क्या हमारे अन्तर्जगतमें किसी भी सौंदर्यकी रचना नहीं की? वहाँ क्या हिंसा और वासनाओंकी ही आँधी उठती है? वहाँ क्या प्रेमकी मृदु तरंगें नहीं उठती हैं? क्या संसारमें संघर्ष ही सत्य है, सहयोग नहीं? क्या जीवनमें कर्मका चक्र ही यथार्थ है, भावकी कला नहीं? क्रमशः अन्धकार फैल गया और मैं घर लौट आया। पर इस एक ही दिनमें मैंने जीवनमें कलाका अनुभव किया और कलामें जीवनका।

युग-साहित्य

युग-वाणी—युग-साहित्यकी पुकारका कोलाहल आजकल हिंदीके बाजारमें सुनाई देने लगा है। पर वास्तवमें 'युग-साहित्य' है क्या चीज? जिन लोगों द्वारा इस नये शब्दाख्यानका प्रचार हुआ है, वे इसके द्वारा एक ऐसे विश्व-क्रांतिकारी साहित्यके युगकी स्थापनाका दम भर रहे हैं, जो निखिल कल्याणकारी सिद्ध होगा, और पिछले विश्व-साहित्यके अवशिष्ट चिह्नोंको ध्वंस-भ्रंश करके स्वयं स्थायित्व और अमरत्व प्राप्त करेगा। अब देखना यह है कि उन लोगोंका यह स्वप्न किस हद तक सफलता प्राप्त करनेकी समर्थता रखता है।

विश्व-जीवन-मार्गकी उपमा एक मनीषीने एक विराट् पर्वतमालासे दी है। जिस व्यक्तिने अपने जीवनमें पहले कभी पहाड़ न देखा हो, वह यदि हिमालय-यात्राको निकले तो प्रथम बार उसे जो पहाड़ दिखाई देगा, निश्चय ही वह उसका मन मुग्ध कर लेगा। जब वह उसकी चोटीपर पहुँचेगा, तब उसके मनमें संभवतः यह धारणा बद्धमूल होगी कि वह सबसे ऊँचे स्थानपर पहुँच गया है। पर कुछ दूर आगे बढ़ने पर उसे एक और चोटी मिलेगी, जो पहली चोटीसे ऊँची होगी। वह सोचेगा "पहले मैंने भूल की थी, पर अब मैं निश्चित रूपसे कह सकता हूँ कि यह पर्वत-शिखर सबसे ऊंचा है।" किन्तु वह जब कुछ दूर और आगे बढ़ेगा, तब उसे एक तीसरी चोटी मिलेगी, जिसकी ऊँचाई दूसरीसे कई गुनी अधिक होनेकी संभावना है। इस प्रकार वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता चला जायगा, त्यों-त्यों उसे एक-से एक ऊँची चोटी पार करनी पड़ेगी।

महाकालकी यात्रामें मनुष्यके अनुभवोंका ठीक यही हाल होता है। उसके आगे घटना-चक्रोंके स्तूप एक एक करके ठीक उसी प्रकार आ खड़े होते हैं, जिस प्रकार पूर्वोक्त पहाड़ी यात्रीके आगे एकसे एक ऊंची पर्वतश्रेणियाँ। अपने संकीर्ण क्षितिजके बाहर देख सकनेकी दृष्टि सृष्टिकर्ता बहुत कम लोगोंको देता है। फल यह होता है कि मनुष्यपर युगधाराका प्रभाव स्वभावतः बड़े गहरे रूपमें पड़ता है। साधारण मनुष्य यह समझता है कि जिस नई भावधाराने उसके युगको छा लिया है, वह अभूतपूर्व और सर्वोत्तम है, तथा उसका अनुसरण करनेसे मानवीय प्रगतिमें मूलगत क्रांति उत्पन्न हो सकती है। पर कुछ ही समय बाद जीवनके जटिल मार्गपर एक चक्कर समाप्त होते ही वह विचारधारा विस्मृतिके गह्वरमें लुप्त हो जाती है और एक नई धारा उसका स्थान अधिकृत कर लेती है, और उसके प्रचारमें भरसक कोई भी बात उठा नहीं रखी जाती। जिस पिछली भावधाराने कुछ समय तक इसपर गहरा प्रभाव डाला था, वह अब उसे एकदम तुच्छ जँचने लगती है। पर इस नये विचारवादके परिपक्व होते-न-होते घटना-चक्रोंके फेरसे एक तीसरा मतवाद उसे मोहने लगता है और पिछला आदर्श आँखोंसे ओझल चला जाता है। प्रत्येक युगकी वाणी क्षणकालके लिये उसके मनको, प्राणोंको, पूर्णतया अभिभूत कर लेती है, और एक नया भूत इस प्रबलतासे उसे धर दबाता है कि पिछले भूतकी कोई स्मृति ही उसके मनमें शेष नहीं रह जाती। सबसे अधिक शोचनीय बात यह है कि मनुष्य अपनी जीवन-यात्रामें एक ऐसे स्थिर बिन्दु तक कभी नहीं पहुँच पाता; जहाँसे वह अपनी जीवन-कालीन युगधाराओंका विवेचन समग्र रूपसे कर सके।

पूर्वोक्त बातोंसे स्पष्ट हो जाता है कि युगधाराएँ निरन्तर परिवर्तन-

शील होती हैं, और किसी एक युगके विशेष मतवादके दृष्टिकोणसे विश्वकी चिरन्तन प्रगतिके सम्बन्धमें कोई निश्चित राय प्रकट करना घोर दुस्साहसिकता है। इसीसे यह भी सिद्ध होता है कि जिस 'युग-साहित्य' की घोषणा हमारे नवीन आलोचकगण प्रगतिके नक्कारोंके साथ कर रहे हैं, वह एक क्षणिक भावोत्तेजनामूलक बाढ़की पूर्व-सूचनाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अथवा यों कहिये कि एक नये साहित्यक फैशनका डंका हिन्दी जगत्में पीटा जाने लगा है। जिस प्रकार विलासियोंके फैशनकी आमद पैरिससे होती है, उसी प्रकार वर्तमान युगके साहित्यक फैशनोंका आयात रूससे हो रहा है। पर जिस प्रकार हमारे देशके विलासी-सम्प्रदायमें वे फैशन प्रचलित दिखाई देते हैं जिन्हे यूरोपवासी कई दशाब्दियों पहले परित्याग कर चुके हे, उसी प्रकार रूसके साहित्यिक फैशन भी हमारे देशमें दशाब्दियों बाद पहुँच पाते है। फल यह देखनेमें आता है कि जिस नकारवादी (Nihilist) साहित्यका प्रचलन रूसमें प्रायः अस्सी वर्ष पहले हुआ था, और प्रचलित होनेके कुछ ही वर्ष बाद जो साहित्य विलीन होकर केवल साहित्यिक इतिहासके पृष्ठोंमें उल्लिखित होने योग्य रह गया था, उसे उन्हें विश्व समाजके सब रोगोंकी एक अपूर्व रामबाण औषधि प्राप्त हो गई हो। उन्हें पता नहीं है कि जिस समाज-ध्वंसवादी विनाशात्मक साहित्यको वे लोग इतना महत्त्व दे रहे है, उसका प्रयोग जब-जब जिस-जिस देशके साहित्य-क्षेत्रमें हुआ है, तब-तब उनकी असफलता अत्यन्त शोचनीय रही है और उसका परिणाम घातक सिद्ध हुआ है। कारण यह है कि विनाश और विध्वंसकी नींवपर कभी कोई साधारण निर्माण-कार्य भी नहीं हो सकता, साहित्य-निर्माणके महान् कार्यके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है।

जिस घृणा, विद्वेष, प्रतिहिंसा और उच्छृंखलताकी भावनाका आलोड़न उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें रूसी साहित्यमें हुआ था, वही आज हमारे साहित्य-क्षेत्रमें दिखाई देने लगा है। इस प्रकारकी भावनाओंकी नींवपर किसी महासाहित्यके निर्माणका स्वप्न देखना कितना हास्यास्पद है, यह बात समय शीघ्र ही स्पष्ट कर देगा। मजदूरों और किसानोंके प्रति समानुभवता और प्रेमकी आड़में जिस घोर प्रतिहिंसात्मक, विद्वेषमूलक, विनाशवादी, अनियन्त्रित साहित्यका रोग 'गैलपिंग थाइसिस' (क्षिप्रगतिसे बढ़नेवाले क्षय रोग) की तरह हमारे साहित्य-जगतको आक्रान्त करने जा रहा है, उसका एक कारण छायावादी युगकी निर्द्वन्द्वभाव विलासिताके बादकी स्वाभाविक जड़ता-जनित प्रतिक्रिया भी है। नशीले पदार्थोंका सेवन करनेवाले व्यक्तियोंके यकृत दूषित हो जाते हैं, इस कारण उन्हें अपनी जिह्वाकी अरुचिजनित जड़ता दूर करनेके लिये बीच-बीचमें तीक्ष्ण और विदाही मसालोंसे युक्त चरपरे भोजनकी इच्छा हो जाती है। ठीक यही हाल इस समय हमारे भूतपूर्व छायावादी और वर्तमान प्रगतिपंथी कवियों तथा आलोचकोंका है। उनकी साहित्यिक रसना छायावादी मादकताके अतिरिक्त सेवनसे दूषित हो उठी है और उसका स्वाद बिगड़ गया है, इस कारण शोषितवर्गीय जनताके प्रति कृत्रिम सहृदयताको अपनी ओट बनाकर वे चटपटे मसालेदार उच्छृंखलतावादी साहित्यकी ओर टूट पड़े हैं। सभी जानते हैं कि 'लीवर'की शिकायतमें इस प्रकारका कुपथ्य यद्यपि प्रिय लगता है, तथापि उसका परिणाम नशेके कुपरिणामसे कुछ कम हानिकारक नहीं होता। वर्तमान 'युग-साहित्य'के जिस बासी रसको हमारे प्रगति-पंथी साहित्यिक नूतन अमृतरस समझे बैठे हैं, वह निश्चय ही युगके बीत जानेपर अपना विषैला प्रभाव दिखाकर रहेगा। अतएव विषरस-भरे इस कनक-घटसे

बचकर चलनेकी चेतावनी हमारे तरुण, अनुभवहीन साहित्यकोंको देने-की परम आवश्यकता आ पड़ी है।

कोई भी युग-साहित्य कभी चिर साहित्य नहीं हो सकता। कितने ही राजनीतिक मतवाद और सामाजिक अनुशासन ससारमें आये और गये, जो जो साहित्यिक रचनाएँ उन मतवादोंके प्रचारके लिये लिखी गईं, वे भी उन्हींके संग विलीन हो गईं। पर अमृतके वरपुत्र विश्वकवियों और मनीषियोंने शाश्वत विश्व-जीवनके मर्ममें अपनी अन्तरात्माको निमग्न करके जो अमर रचनाएँ अपने युग-विचारोंके लिये नहीं, बल्कि समग्रकालीन मानवताके आनन्द और कल्याणके लिए लिखीं, केवल वे ही शताब्दियोंके चक्र-संघर्षोंके पेषनसे बचकर स्थायी रह पाई हैं। इसमें संदेह नहीं कि युग-युगमें श्रेष्ठ साहित्यके बाह्य रूप बदलते रहे हैं। वाल्मीकि-रामायणका जो ढंग और ढाँचा था, रघुवंश और कुमार-संभवका उससे बिलकुल भिन्न रहा। रघुवंशका जो स्वरूप था, तुलसीदासकी काव्य-रचनामें उसका कोई चिह्न नहीं दिखाई देता। इससे स्पष्ट है कि श्रेष्ठ साहित्यके बाह्य रूपोंमें भी युग-प्रभाव अवश्य पड़ता है, पर स्मरण रहे कि केवल बाह्य रूपोंमें पड़ता है, आन्तरिक उपादानोंमें नहीं; क्योंकि वाल्मीकीय रामायणमें हम जो काव्यगत मूल सौंदर्य पाते हैं, रघुवंशका अन्तर्निहित सौंदर्य उससे तनिक भी भिन्न नहीं है, और तुलसीदासकी काव्य-रचनामें मूलतः उसी सौंदर्यका परिस्फुटन हुआ है।*

अमर कलाकार चिरकालसे अपने अपने युगकी भाव-धाराओंकी

---

* पूर्वोक्त तीनों रचनाओंके मूलगत उपादान एक ही हैं, इस सम्बन्धमें प्रगतिवादी भी मुझसे एकमत हैं, क्योंकि उनके मनमें तीनोंका मूल बीज पूँजीवादी मनोवृत्ति है—लेखक

बाढ़में कभी बहे नहीं है, उन्होंने युगके प्रभावको अपनी रचनाओंके बाहरी ढाँचों तक सीमित रखा है। बस, उसके आगे उन्होंने उसे बढ़ने नहीं दिया है।

पर जिस युगका प्रभाव साहित्यका मूल उपादान बन बैठा है, वहाँ यह निश्चित रूपसे समझ लेना चाहिये कि युगके साथ ही ऐसे साहित्यका विनाश अवश्यम्भावी है।

सभी प्रकारके फैशन—चाहे वे सामाजिक हों चाहे राजनीतिक, चाहे साहित्यिक—धूमकेतुके आडम्बरके साथ क्षणकालके लिये आते हैं और कुछ समयके लिये एक तूफ़ान-सा मचाकर धूमकेतुओंके समान ही लुप्त हो जाते हैं। जो कवि अथवा लेखक अपने युगके फैशनको पूर्ण-रूपसे अपनाकर उसे एक सुन्दर पालिश किया हुआ रूप देनेमें विशेष सफलता प्राप्त कर लेता है, उसे उस युगमें गड्डलिका-प्रवाह-पंथी आलोचकगण अमरत्वका पद प्रदान करनेके लिये उत्सुक हो उठते हैं। दस-बीस वर्ष बाद जब किसी ऐसे कलाकारकी कृतियोंका युगान्त हो जाता है, तो उसका अमरत्वका पद छिनकर किसी दूसरे ऐसे लेखकको मिल जाता है, जो अपने युगकी 'प्रगति' में सबका मुखिया बननेके कला-कौशलमें दूसरोंके कान काटता हो। पर शीघ्र ही उसके भी साहित्यिक फैशनकी अवधि पूरी होनेमें अधिक देर नहीं लग सकती, और फैशनके अन्तके साथ ही युगपंथी आलोचकोंद्वारा प्रदत्त अमरासनसे उसे भी च्युत होनेको बाध्य होना पड़ता है। जर्मनीके एक युगधर्मी कवि (आगस्ट फान प्लाटेन) ने म्यूलर नामक एक नाटककारको विश्वविख्यात नाटककार शिलरसे कई गुना अधिक श्रेष्ठ बताया था। आज म्यूलरका नाम केवल 'मिश्र-बन्धु-विनोद' श्रेणीकी दीर्घ साहित्यिक सूचियोंके अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता।

वर्तमान शताब्दिके प्रारंभसे लेकर वर्तमान समय तक कितने ही व्यक्ति

अपने युगके सर्वश्रेष्ठ पुरुष घोषित किये जा चुके है। पर यह महान् गौरव एक वर्षसे अधिक समय तक किसी बिरले ही व्यक्तिके सम्बन्धमें स्थिर रह सका है। अधिकसे अधिक पाँच वर्ष तक यह विशेषत्व अपने युगके तथाकथित महापुरुषोंको प्राप्त होता है। दस वर्ष तो चरम सीमा है। युगधर्मी आलोचकोंके प्रचार-प्रभावसे कुछ पुस्तकें क्षणकालके लिये सातवें आसमानपर चढ़ जाती हैं, और कुछ समय तक जनतामें केवल उन्हीं पुस्तकोंकी चर्चा रहती है। विगत महायुद्धके बाद ओजवाल्ड स्पेंगलरने 'पाश्चात्य सभ्यताका विनाश' शीर्षक एक पुस्तक लिखी थी। महायुद्धकी आतंककारी अनुभूतियाँ उस समय यूरोपियन जनताके मन-पर ताजी थीं। स्पेंगलरने ठीक मनोवैज्ञानिक समयपर वह पुस्तक लिखी, जिसका फल यह हुआ कि साधारण-से-साधारण पाठकसे लेकर विश्व-विद्यालयोंके अध्यापक तक उसका गुन गान करने लगे। उसका बड़ा प्रचार हुआ और लाखों काँपियाँ बिकीं। बहुत-से आलोचकोंने तो यहाँ तक कहा कि स्पेंगलरकी प्रतिभा अरस्तू और अफलातूनसे बहुत आगे बढ़ गई है और उक्त दो ग्रीक लेखकोंकी अमरता उतनी निश्चित नहीं जितनी स्पेंगलरकी है। पर शीघ्र ही युग-धर्म ढहने लगा। युद्धके कारण जो श्मशान-वैराग्य यूरोपवासियोंमें समा गया था, वह स्वभावतः मिट गया, और उसके स्थानमें फिरसे प्रतिहिंसाकी आग भीतर ही भीतर धधकने लगी। फल यह हुआ कि जर्मनीमें हिटलरने अपना अधिकार जमा लिया। शांति और वैराग्यके अवशिष्ट चिह्न यूरोपवासियोंके अंतरसे कुचल डाले गये। फिरसे दानवी शक्तिकी विजयका डंका पीटा जाने लगा। देखते-ही-देखते प्रायः सारे यूरोपमें हिटलर-राजका आतंक छा गया। ओजवाल्ड स्पेंगलरके विचारोंकी जिस पुस्तककी पूजा एक दिन जर्मन लोग करने लगे थे, आज वह प्राचीन पुस्तकोंकी किसी लायब्रेरीमें पड़ी हुई गर्द-समाच्छन्न होकर अपने भाग्यको

रो रही होगी। ‘ आल क्वाइट आन दि वेस्टर्न फ्रण्ट ’ नामक पुस्तककी भी ठीक यही दशा हुई। इस पुस्तकके छपते ही उसकी लाखों कापियाँ मूल अथवा अनुवादरूपमें सारे संसारमें धड़ाधड़ बिक गईं। उसके लेखक रेमार्ककी धाक साहित्य-जगतमें वैसी ही जम गई जैसी राजनीतिक जगतमें आज हिटलरकी जमी हुई है। पेशेवर युगधर्मी आलोचकोंने उसे संसारका सर्वश्रेष्ठ औपन्यासिक करार दे दिया। उन लोगोंने एक स्वरसे यह घोषित किया कि ‘ आल क्वाइट आन दि वेस्टर्न फ्रण्ट ’ के लेखकने अपनी रचनामें जिस नई शैली और नई कलाका प्रस्फुटन किया है, वह वास्तविक अर्थमें प्रगतिवादी है और पिछले आचार्योंकी दकियानूसी औपन्यासिक कलाका अब कोई मूल्य उसके आगे न रहा। पर उसकी वह ‘ अमर प्रतिष्ठा ’ मुश्किलसे दो या तीन वर्ष तक जीवित रह सकी, और आज तो यह हाल है कि लोग उसका नाम तक भूल गये हैं। आश्चर्यकी बात है कि जिन औपन्यासिक आचार्यों (ह्यूगो, टाल्सटाय, आदि)की रचनाओंको युगपंथी साहित्य-विचारकोंने रूढ़वादी और ‘ आउट आफ फैशन ’ करार दे दिया था, उनका आदर कला-प्रेमी सुसंस्कृत जनतामें घटनेके बजाय बढ़ता ही चला जाता है। वर्तमान महायुद्धके बाद फिर एक बार युग-विवर्तन होगा और बहुतसे वर्तमान मूल्योंका पुनर्मूल्यांकन होगा। पर वह आगामी युग-भावना भी मुश्किलसे एक आध दशाब्दी तक ही स्थिर रह सकेगी।

इस प्रकारकी आँधियाँ समय-समयपर आती रहती हैं, और एक प्रबल झटकेसे ‘ जीर्ण और पुरातन ’ को ध्वंस-भ्रंश करनेका भरसक प्रयत्न करके शीघ्र ही अनन्त शून्यमें विलीन हो जाती हैं। उनके चले जानेपर ‘ जीर्ण और पुरातन ’ जो कि हिमाचलके समान अचल और अटल, अनादि और शाश्वत है, त्र्यम्बकके समान अट्टहास कर बैठता है।

दलितवर्गीय जनताको लेकर आप लोग एक आत्मानुभूत, साधना-प्राप्त, सच्चे, और सुन्दर साहित्यका निर्माण करनेका सहृदय प्रयत्न करें। पर केवल नवीनताके उल्लाससे उन्मत्त होकर अथवा लोकप्रियता प्राप्त करनेकी लालसासे अथवा एक विशेष वर्गकी जनताके प्रति विद्वेषकी भावनासे प्रेरित होकर, अपने संकीर्ण अहंभावकी पूर्तिके लिये यदि आप 'युग-साहित्य' का निर्माण करना चाहें, तो मैं यह कहूँगा कि आप लोगोंके उस आत्मघाती तथा साहित्यविनाशी प्रयत्नका घोर विरोध करना समाजके प्रत्येक समझदार व्यक्तिका कर्तव्य है। शोषित श्रेणीकी जनताकी आत्माओंमें आप जागृतिके भाव भर, उनके जड़ प्राणोंमें नवीन स्फूर्ति और नवीन चैतन्यका संचार करनेका प्रयास करें, उनके साथ एकात्म होकर उनके सदियोंसे विदलित हृदयोंकी मर्म-वेदनाकी यथार्थ अनुभूति प्राप्त करके अपनी कलाद्वारा उसको अमरत्व प्रदान करें, इस बातसे किसी भी समझदार व्यक्तिका कोई विरोध नहीं हो सकता। पर यदि आप आन्तरिक अनुभूतिद्वारा प्रेरित न होकर केवल तथाकथित 'युग-भावना' की बाढ़में बहकर, उसके स्वरमें स्वर मिलानेके उद्देश्यसे, अथवा केवल किसी एक स्वर-परिवर्तनकी आकांक्षासे 'युग साहित्य'का निर्माण करनेका उद्योग करें और साथ ही यह स्वप्न देखें कि इस प्रकारका 'मेन्युफैक्चर्ड' साहित्य महाक्रांतिका उन्नायक होकर अमरत्व प्राप्त करेगा, तो समय निश्चय ही यह सिद्ध कर देगा कि आपकी यह धारणा आकाश-कुसुमके समान अत्यन्त भ्रामक है।

पहले ही कहा जा चुका है कि युग-भावनाएँ फैशनोंकी तरह ही क्षण-स्थायी और अस्थिर होती हैं। प्रधानतः दो श्रेणीके व्यक्ति उन्हें अपनानेके लिये विशेष रूपसे उत्सुक रहते हैं। एक तो वे जिनका उद्देश्य अपना कोई राजनीतिक अथवा सामाजिक स्वार्थ सिद्ध करना है, और दूसरे वे जो

गतानुगतिक मनोवृत्तिसे प्रेरित होकर भेड़ोंके समान उस गड्डलिका-प्रवाहके साथ चलनेमें ही अपनी कुशलता देखते हैं—जिनमें उस प्रवाहसे अलग रह कर अपनी स्वतंत्र-बुद्धि द्वारा चलनेकी योग्यताका सर्वथा अभाव रहता है। इस दूसरी श्रेणीके भेड़-पंथी व्यक्ति जानते हैं कि युगके प्रबल-प्रवाहसे चाहे वह कैसा ही अस्थायी क्यों न हो—अलग रहनेसे वे कदापि आत्मरक्षा नहीं कर सकते इसलिये वे अपनी पूर्ण शक्ति अपने परिचालकोंके स्वरमें स्वर मिलानेमें लगा देते हैं, बल्कि कभी कभी यशोलोभी गुरुओंके ये लालची चेले उनसे भी ऊँची आवाजमें चिल्लाकर युग-धर्मके नारे लगाने लगते हैं।

कवियों और कलाकारोंके सम्बन्धमें यह बात प्रसिद्ध है कि उनमें स्वतन्त्र बुद्धिका कोई अभाव नहीं पाया जाता। पर हमारे कवियोंका यह हाल है कि उनमें अहंभाव जितना ही प्रबल है, आत्म-बुद्धिकी स्वतन्त्रताकी उतनी ही कमी है। यदि ऐसा न होता, तो वे आत्मनुभूत भावों और अन्तर्साधना द्वारा प्राप्त सत्यका प्रस्फुरन करना छोड़ कर एक यंत्र मात्र न बनते।

हमारे साहित्यका इससे अधिक पतन और क्या हो सकता है कि जिन प्रमुख कवियों और लेखकोंसे यह आशा की जाती थी कि वे गहन आत्मानुभूतिकी अन्तःप्रेरणा द्वारा चिरकल्याणकारी महत् आदर्शोंकी स्थापना करके नवजीवन-संचारी भावों और रसोंकी ओर जनताको प्रेरित करेंगे, वे स्वयं प्रेरक न बनकर प्रेरित बन गये?

असल बात यह है कि हमारे नवीनतावादी अर्द्ध प्राचीन साहित्याचार्यगणके अन्तर-रसका भंडार हो गया है निःशेष और अब उस रस-द्वारा वे मधुलोभी पाठकोंको अपनी ओर आकर्षित करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं। चूँकि लोक-प्रसिद्धि बनाये रखना ही उनके जीवनका प्रधान

उद्देश है, इस लिये अन्तर्बलका अभाव होने पर उन्होंने ऐसे बाह्य साधनोंको पकड़ना श्रेयस्कर समझा है, जिनके द्वारा उनकी लोक-प्रसिद्धि दूसरे रूपमें कायम रह सके।

नवीनताके प्रति मोह भी उन कारणोंमेंसे एक है, जो हमारे कवियों और लेखकोंको तथाकथित युग-साहित्यकी ओर आकर्षित कर रहा है। 'नई आई, पुरानोंको दूर करो'—इस लोकोक्तिकी सार्थकता प्रत्यक्ष रूपसे हमारे साहित्य-क्षेत्रमें दिखाई देने लगी है। साहित्यमें कूपमंडूप मनोवृत्तिकी बद्धताको दूर करनेके लिये नवीनताको अपनाना शिशुता और भेड़-पंथी मनोवृत्तिका परिचायक है। इस प्रकारकी नवीनता हवाई आतिशबाजीकी तरह क्षण-भरके लिये अपनी जगमगाहट दिखाकर तत्काल ही निर्वाण प्राप्त हो जाती है। साहित्यमें किसी नये आदर्शको स्थायित्व प्रदान करनेके लिये उसे सनातन पृष्ठाधारपर स्थापित करना पड़ता है, तभी उसकी सार्थकता स्थिर, निश्चित, सर्वकालीन और सार्वजनिक रूप धारण करती है। फ्रान्सीसी राज्यक्रांतिके समयके एक प्रगतिवादी कविका कहना था कि 'काव्य-कला'के पुरातनत्वके आधारपर नये विचारोंकी स्थापना की जानी चाहिये।' जब तक पुरातनके विपुल विस्तार और हिमालय-पर्वतोपम अचल शांतिकी भित्तिपर नवीन भावधाराकी प्रवेगशील भावोत्तेजनामयी चंचलताका विन्यास नहीं किया जायगा, तब तक 'युग-साहित्य' शाश्वत पद तक कदापि नहीं पहुँच पावेगा। और जो युग-साहित्य स्थायी साहित्यकी कोटि तक नहीं पहुँच सकता, उसकी क्षणिक कूद-फाँद व्यर्थ ही है।

नवीन धाराके कवियोंमें जो तूफानी आवेग और आन्तरिक विद्रोहकी अशांतिके चिह्न पाये जाते हैं, कदाचित् उनमें किसी अंश तक

सहृदयता और सचाई वर्तमान हो। पर वर्ड्सवर्थके कथनानुसार 'प्रकृति गहन मार्मिकताका आदर करती है, आत्माके तूफानी आवेगका नहीं।' फिर भी हम यह कामना करते हैं कि वर्तमान साहित्यिक युगकी यह अशांति और विद्रोहकी आँधी प्रगतिके किसी रहस्यपूर्ण, अज्ञात नियमकी मायासे एक ऐसे मंगलमय बीज हमारे साहित्यकी भूमिमें उड़ाकर लानेमें सफलता प्राप्त करे, जो पनपकर एक विश्व-कल्याणकारी महावृक्षके रूपमें परिणत हो सके और अपनी प्रशान्त छायामें विश्व-प्रेम, विश्व-शान्ति और सार्वजनीन समताका अभिसंचार करता रहे।

साहित्य और समाज

हिन्दी साहित्यमें अब जो नई शक्तियाँ आ रही हैं, उनमें बहुभागको सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है। कुछ काल पहले तक हमारा साहित्य उच्च-वर्गीय था। उसके उत्पादक समाजके प्रतिष्ठा-प्राप्त व्यक्ति थे। अब अधिकांश ऐसा नहीं रह गया है। जिनको समाजमें पैर टेकनेको कोई ठीक ठौर नहीं है, वे लोग भी आज लिखते हैं। इससे प्रश्न होता है कि समाजकी और साहित्यकी परस्पर क्या अपेक्षा है?—क्या सम्बन्ध है?

साहित्य अब अधिकाधिक व्यक्तिगत होता जा रहा है। पहले वह अपेक्षाकृत समाजगत था। समाजकी नीति-अनीतिकी मान्यताओंकी ज्यों-की त्यों स्वीकृति साहित्यमें प्रतिबिम्बित दीखती थी। अब उसी साहित्यमें समाजकी उन स्वीकृत और निर्णीत धारणाओंके प्रति व्यक्तिका विरोध और विद्रोह अधिक दिखाई पड़ता है। अतः यह कहा जा सकता है कि साहित्य यदि पहले दर्पणके तौरपर सामाजिक अवस्थाओंको अपनेमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भावसे धारण करनेवाली वस्तु थी तो अब वह कुछ ऐसी वस्तु है जो समाजको प्रतिबिम्बित तो करे पर चाटुतासे अधिक उसे चोट दे, और इस भाँति समाजको आगे बढ़ानेका काम भी करे। साहित्य अब प्रेरक भी है। वह ला देता ही नहीं, अब वह करता भी है। हमारी नीति ही उसमें नहीं है, हमारे संकल्प और हमारे मनोरथ भी आज उसमें भरे हैं।

जो समाजके प्रति विद्रोही है, समाजकी नीति-धर्मकी मर्यादाओंकी रक्षाकी जिम्मेदारी अपने ऊपर न लेकर, अपनी ही राह चला जा रहा है, जो बहिष्कृत और दण्डनीय है, ऐसा आदमी भी साहित्य-सृजनके

लिये आज एकदम अयोग्य नहीं ठहराया जा सकता। प्रत्युत देखा गया है कि ऐसे लोग भी हैं जो आज दुतकारे जाते हैं, पर अपनी अनोखी लगन और अपने निराले विचार-साहित्यके कारण कल वे ही आदर्श भी मान लिये जाते हैं। वे लोग जो विश्वके साहित्याकाशमें द्युतिमान् नक्षत्रोंकी भाँति प्रकाशित हैं, बहुधा ऐसे थे जो आरंभमें तिरस्कृत रहे, पर, अन्तमें उसी समाजद्वारा गौरवान्वित हुए। उन्होंने अपने जीवन-विकासमें समाजकी लांछनाकी वैसे ही परवा नहीं की, जैसे समाजके गौरवकी। उनके कल्पनाशील हृदयने अपने लिये एक आदर्श स्थापित कर लिया और बस, वे उसीकी ओर सीधी रेखामें बढ़ते रहे। यह समाजका काम था कि उनकी अवज्ञा करे अथवा पूजा करे। उन व्यक्तियोंने अपना काम इतना ही रखा कि जो अपने भीतर द्रुत लौ जलती हुई उन्होंने पाई, उसको बुझने न दें और निरन्तर उसके प्रति होम होते रहें। समाजने उन्हें आरंभमें दरिद्र रक्खा, अशिष्ट कहा, अनुतरदायी समझा, यातनाएँ तक दीं, हँसी उड़ाई—यह सभी कुछ ठीक। किन्तु, जो कल्याण-मार्ग उन्होंने थामा उसीपर वे लोग सबके प्रति आशीर्वादसे भरे ऐसे अविचल भावसे चलते रहे कि समाजको दीख पड़ा कि उनके साथ कोई सत्-शक्ति है,—जब कि समाजकी अपनी मान्यताओंमें सुधारकी आवश्यकता है।

ऐसे लोग पहले तिरस्कृत हुए, फिर पूजित हुए। संसारके महापुरुषोंके चरित्रमें यही देखनेमें आता है। समाजके साथ उनका नाता गुलामीका नहीं होता, नेतृत्वका होता है। वे अपनी राह चलते हैं। समाज उनपर हँसता है, किन्तु, फिर उन्हींके उदाहरणसे अपनी आगेकी राहको प्रकाशित भी पाता है।

काल-भेदकी अपेक्षा हमने साहित्यकी प्रकृतिमें भेद चीन्हा। किन्तु,

गुण-भेदसे भी साहित्यमें दो प्रकार देखे जा सकते हैं। एक वह जो समाजके स्थायित्वके लिये आवश्यक है। दूसरा वह जो समाजको प्रगतिशील बनाता है।

साहित्य दोनों प्रकारके आवश्यक हैं। लेकिन, यदि अधिक आवश्यक, अधिक सप्राण, अधिक साधनाशील और अधिक चिरस्थायी किसीको हम कहना ही चाहें तो उस साहित्यको कहना होगा जो अपने ऊपर खतरे स्वीकार करता है, और चाहे, चाबुककी चोटसे क्यों न हो, समाजको आगे बढ़ाता है। वह साहित्य आदर्शप्राण होता है, भविष्यदर्शी होता है, चिरनूतन होता है,—किन्तु, ऐसा साहित्य सहज मान्य नहीं होता।

समाजमें दो तत्त्व काम करते हुए दीखते हैं। समाजके सब व्यक्ति न्यूनाधिक रूपमें इन्हीं दोनों तत्त्वोंके प्रतिनिधि समझे जा सकते हैं। एक ग्राहक है, एक विकीर्णक। एक व्यक्तित्वशून्य, एक सव्यक्तित्व। एक वह जो अपने भीतर ही अपना केन्द्र अनुभव करता है; दूसरा वह जो अपने परिचालनके लिये अपनेसे बाहर देखनेकी अपेक्षा रखता है। एक गीतशील, दूसरा संवरणशील।

सामाजिक जीवन अथवा समाजका व्यक्ति इन्हीं दोनों तत्त्वोंके न्यूनाधिक अनुपातका सम्मिश्रण है। एक ओर गाँवका बनिया है जो दादा—परदादाके जमानेसे अपनी नोन-तेलकी दूकानपर बैठता है और लाखों रुपया जोड़कर अपना कुनबा और अपनी जायदाद बढ़ानेमें लगा रहता है। दूसरी ओर वह है जिसे घरबारसे मतलब नहीं, जहाँ ठौर मिला वहीं बसेरा डाला, ब्याहकी बात जिसे सुहाती तक नहीं,—चक्कर ही काटता डोलता रहता है। इस व्यवसाय-बद्ध (Stationery) और गतिशील (Mercurial),—दोनों प्रकारके जीवनों और व्यक्तियोंके

साहित्यमें समावेश है। दोनोमेंसे कोई उसके लिये अनुपयुक्त नहीं और कोई उसके लिये वर्ज्य नहीं।

किन्तु, समाज साहित्यकी भाँति इतनी भावना-जीवी वस्तु नहीं है, इसलिये, वह इतनी उदार और महत्त्वपूर्ण वस्तु भी नहीं है। समाजमें व्यवसायशील तत्त्वका अधिक आदर है और अधिकार है। इसलिए, दूसरे तत्त्वके प्रतिनिधि व्यक्तियोंके प्रति समाजमें अवमानना और संघर्ष-का भाव अधिक रहता है।—अर्थात् समाज वैश्य-प्रधान है; फकीर उसकी दुनियादारीके लिए अनावश्यक है। वैश्य शासनकी सत्ताको हाथमें लेगा, फकीर केवल वैश्यकी कृपापर जीवेगा। अगर फकीर वैश्य-की कृपाको साभार स्वीकार नहीं करता तो वैश्य उसके लिए न्यायालय और जेलखाने खड़े करेगा।

यह समाजकी हालत है। पर वही समाज अपने साहित्यमें और आदर्शोंमें उसी फकीरके गुण-गान करेगा। फकीरका आदर्श वैश्यके बहुत मन भाता है। फकीर अगर कुछ गडबड़ न करे, तो उसे अपने घरमें प्रतिष्ठा देकर वैश्य अपने परलोककी भी सुव्यवस्था कर लेगा। पर, फकीरीके रास्तेपर एक कदम चलनेकी बात भी अगर उसके नाती-पोतोंके मुँहसे निकली तो फिर उनकी खैर नहीं।

दोनों तत्त्वोंको अपनेमें समानरूपसे धारण करनेवाला साहित्य एकांगी जीवनवाले समाजसे क्या अपेक्षा रक्खे? उससे क्या सम्बन्ध रक्खे?—इस प्रश्नका सीधा उत्तर नहीं दिया जा सकता। उत्तर यही बन सकता है कि साहित्यकारके व्यक्तित्वकी अपेक्षा ही उसका समाजके साथ सम्बन्ध निर्णीत होगा।

धातुका बना हुआ पैसा–रुपया–गिन्नी ठोस सत्य चीज है। जिनकी सत्य-कल्पना इस ठोस धातुमय तलसे ऊँची नहीं उठती या नीची नहीं

जाती वे व्यक्ति यदि लिखेंगे तो उनकी रचनाओंका समाजके साथ सम्बन्ध स्वीकृतिका, आज्ञाकारिताका अथवा अनुमोदनका होगा।

यह भी हो सकता है कि ऊपरसे उनके साहित्यमें समाजके लिये उगली हुई गालियाँ दिखाई दें, लेकिन, वे वैसी ही जली-कटी बातें होंगी जैसी कोई रूठी और कुपित पत्नी खीजमें अपने पतिको कहती है। उन्हीं जली-भुनी बातोंसे पता चलता है कि वे समाजकी कृपाके और ध्यानके,— Attention के, याचक हैं। जो पैसा चाहते हैं, जो पैसेके लिये जीते है, वे बड़ी मीठी मीठी चीजें या बड़ी चरपरी चीजें लिखकर समाजको भेट करते हैं। यह कौन नहीं जानता कि मिठाई बिकती है तो चरपरी चाट भी कुछ कम नहीं बिकती? ऐसे साहित्य और साहित्यकारोंका समाजके साथ सम्बन्ध उस दूकानदार जैसा है जो सबको ग्राहक रूपमें देखना चाहता है; या उस पत्नीके ऐसा है जो जानती है कि पतिके बिना उसका जीवन नहीं। इस साहित्यमें, तीखे-जले व्यंगके तीर चाहे जितने हों, समाजकी स्वीकृति प्रधान होती है। मनोरंजन उसमें अधिक होता है, सत्य कम। प्लाट अधिक होता है, विश्लेषण कम। बनावट अधिक होती है, गहराई कम। साहित्यके गोदाममें अधिक माल इसी रकमका है। क्योंकि, समाजमें घरबार बनाकर छोटी-मोटी कमाई करके जीनेवाले लोग ही अधिक हैं।

पर फकीर कम हैं। वैसे फकीर जिनकी फकीरी दूकानदारी नहीं है। उन फकीरोंका समाजके साथ सम्बन्ध क्या है?—वे समाजके हितैषी हैं। वे समाजको गाली देना नहीं जानते; पर, समाजकी हाटसे वे विमुख रह सकते हैं। अपने जीनेके लिये वे समाजके इशारेकी ओर नहीं देखते। वे लिखते हैं तो हितैषिताके नाते लिखते हैं और अपने धर्म-पालनके नाते लिखते हैं। सत्यकी प्रतिष्ठाके लिये (अर्थात् सत्यके उस

रूपकी प्रतिष्ठाके लिये जो उनके भीतर प्रतिष्ठित है,—बाहर नहीं) वे लिखते हैं। कहा जा सकता है, समाजके बाजारमें डोलनेवाले लोगोंके लिये वे नहीं लिखते। उनका समाजके साथ सम्बन्ध,-उनकी ओरसे कहा जा सकता है, निरपेक्ष सत् कामनाका है,-निष्काम हितैषिताका है। समाजकी ओरसे वही सम्बन्ध आरंभमें उपेक्षा, लाञ्छना, बहिष्कारका होता है, अन्तमें आदर और पूजाका।

साहित्यके अमर स्रष्टाके रूपमें, इस भांति हम देखते हैं कि वे ही लोग हमारे सामने आते हैं जिन्होंने अपनेको अपनी राहपर अपने आप चलाया। उन्होंने यह कम चाहा कि लोग उन्हें अच्छा गिनें। जैसे भी कुछ वे थे उसी रूपमें उन्होंने समाजके सामने अपनेको प्रकट होने दिया। आज चाहे समाज उन्हें महान् पुरुष भी गिनता हो, लेकिन चूँकि समाजकी नीति-धारणा बहुत धीमी चालसे विकासित होती है, इसलिये, समाजको बरबस उन्हें दुष्टचरित्र और दुःशील मानना पड़ता है। उनकी महत्ताके प्रकाशमें निस्सन्देह समाज-सम्मत धारणाओंमें परिवर्तन होता रहता है। फिर भी, वे सहसा इतनी विकासित नहीं हो सकतीं कि हर प्रकारकी महत्ता उनकी परिभाषामें बँध जाय। यही कारण है कि आज जिस ईसाको दो तिहाई दुनिया ईश्वर मानती है, उसीको शूली चढ़ाये बिना भी दुनियासे नहीं रहा जा सका। ईसाका दुनियासे क्या सम्बन्ध था? वह त्राता था, उपदेष्टा था, सेवक था। दुनियाने उसके साथ अपना क्या सम्बन्ध बनाया? उसे फाँसी दी, और इस तरह अपनी व्यवस्था निष्कंटक की। और अब दुनियाने उसके साथ क्या सम्बन्ध बना रक्खा है? दुनिया कहती है—'वह प्रभु था, अवतार था।'

साहित्यकार (अर्थात्, दूसरे प्रकारका साहित्यकार) वर्तमानसे अधिक भविष्यमें रहता है। दुनियाको खुश करनेसे अधिक दुनियाका कल्याण

चाहता है । इसीलिये, वह दुनिया लाचार होती है कि उसको न समझे, उसकी उपेक्षा करे या बहुत हो तो उसकी पूजा करे,—उसका भय करे । दुनिया, क्योंकि उसे समझ नहीं सकती इसीलिये, उसे प्रेम नहीं कर सकती । ऐसे साहित्यकारका यह दुर्भाग्य होता है—अथवा यही उसका सौभाग्य है, कि वह लौकी भाँति अपने आपमें ही जलता चला जाय । वह दुनियाको खुश नहीं करना चाहता, रिझाना नहीं चाहता,—उसका भला करना चाहता है; पर दुनिया अपना भला क्यों चाहे ?—वह अपनी खुशी चाहती है ।

अधिकतर साहित्यिक दुनियाके मनोरंजन और विलासका सामान देते हैं । यह ऐन्द्रिय साहित्य है । पद्य-साहित्यमें लगभग अस्सी फी सदी साहित्य वैसा वैषयिक साहित्य है, अर्थात् व्यसनशील साहित्य,—हल्के-से नशे और भुलानेमें डालनेवाला साहित्य । इस प्रकारके साहित्यके लेखोंका सम्बन्ध समाजके साथ स्वीकृतिका है । वे समाजके मनोरंजन हैं, समाजके जीवनके हमजोली हैं । समाजके हृदयकी गहरी वेदनाके साथ एकात्म पानेकी चिन्ता और अवकाश उन्हें नहीं है ।

अपने लिये दूसरी अस्पृहणीय स्थिति स्वीकार करके चलनेवाले दूसरे वे लोग हैं जो समाजके विलासका साधन,—Induegence, देनेकी ओर प्रवृत्त नहीं होते । वे समाजके रुखकी ओर नहीं देखते, उसके रोगकी ओर देखते हैं । वे अत्यन्त नम्र हैं, पर अत्यन्त कठोर भी । वे वर्तमानको अपने स्वप्नके रंगोंमें रंगा हुआ देखना चाहते हैं । उनका समाजके साथ सम्बन्ध स्वीकृतिका नहीं होता, अहम्मन्य अस्वीकृतिका भी नहीं होता,—मानो वह निष्काम होता है । इस तरह एक साहित्य वह है जिसे समाजकी मजेकी माँग बनाती है । दूसरा साहित्य वह है जो समाजके नेतृत्वके लिये सृष्ट होता है । पहले प्रकारके साहित्यमें समाज

स्वाद लेता है, प्रसन्न होता है,—उसे उसमें चाव होता है। दूसरा, समाजको शुरूमें कुछ फीका-फीका कठिन, गरिष्ठ मालूम होता है, पर उसीको फिर वह औषधके रूपमें स्वीकार करता है।—उसी भाँति साहित्यकार हैं जो समाजमें सम्पन्न दीखते हैं, और साहित्यकार हैं जो समाजसे दूर बहिष्कृत दीखते हैं।

समाजका और साहित्यका आरंभसे ऐसा ही सम्बन्ध चला आता है। हम नहीं समझते, कभी कुछ और हो सकेगा।

कहानी-कलाका विकास

कथा मानव-जीवनका उत्स है और कुतूहल भी। बेकनने कहा है—" वस्तु-सत्य और सत्य-ज्ञान एक ही है। दोनोंमें अन्तर इतना ही है कि एक किरण है और दूसरा उसका प्रतिबिम्ब।" हम यही अन्तर जीवन और कथामें मानते हैं। जीवन स्वयं सत्य है और कथा उसका प्रतिबिम्ब। जिस प्रकार जीवन अनेक व्यापारों तथा अंगोंका बना हुआ है उसी प्रकार कथा भी कुछ अथवा कई व्यापारों तथा अंगोंका प्रतिबिम्ब हो सकती है। इस प्रकार कथाके दो रूप होते हैं। एक वह जिसमें जीवनके अंग विशिष्ट अथवा कतिपय व्यापारोंकी प्रतिच्छाया हो और दूसरा वह जिसमें समस्त जीवन-व्यापारोंकी परछाहीं चित्रित हो। जिसमें जीवनका खंड गृहीत होता है वह कहानी और जिसमें अखंड जीवन अंकित होता है वह उपन्यासके नामसे अभिहित होता है।

कहानीके तत्त्व

उपन्यासके समान कहानीके भी निम्न तत्त्व होते हैं—

(१) कथावस्तु, (२) पात्र, (३) कथोपकथन, (४) शैली, (५) उद्देश्य।

कथावस्तु

कहानी जीवनका खंड होनेके कारण उसकी कथावस्तु छोटी होती है, इसीलिये उसके गुंफनमें अधिक सतर्कताकी आवश्यकता है। कथा ऐसी हो जो नई तो जान पड़े पर अनहोनी न हो; रोचक हो, मनो-भावोंको स्पष्ट करनेवाली हो। वह इतनी संगठित हो कि उसमें एक भी

शब्द भरतीका प्रतीत न हो। उसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य उद्देश्यकी ओर ले जानेवाला होना चाहिये। प्रसिद्ध आंग्ल समीक्षक रिचार्ड्सने कहानीमें वस्तु-तत्त्वको बड़ा महत्त्व दिया है। वह कहानीको सृजनात्मक साहित्यका (Creative-Literature) बीज मानता है। नाटक और महाकाव्यकी सृष्टि कहानीके बिना असंभव है। गीति-काव्यमें भी कहानीका प्रवेश संभव है। यदि कहानीकारमें कौशल है तो वस्तुको आकर्षक रूप दे पाठकमें सौंदर्य-सुख संचारित कर सकता है।

पात्र

कहानीमें पात्रोंका चरित्र-चित्रण बड़ी चतुराईसे किया जाता है। उसमें विस्तारकी गुंजाइश न होनेसे यत्र-तत्र संवादोंमें ही पात्रोंके चरित्रका रहस्योद्घाटन हो जाता है। कहानीमें जितने ही कम पात्र होते हैं, चरित्र-चित्रण उतना ही अधिक सफल होता है। पात्र ऐसे हों जो हमें अपरिचित न जान पड़ें; वे इसी धरतीके प्राणी—हमारे चारों ओर चलने फिरनेवाले—हों। दूसरे शब्दोंमें वे जीवनके बहुत सन्निकट हों। पात्रोंके चित्रणके दो प्रकार प्रचलित हैं—एकमें लेखक अपनेको तटस्थ रखकर पात्रके व्यापारों तथा संभाषणसे उसके चरित्रका उद्घाटन करता है, दूसरेमें वह स्वयं उसके मनका विश्लेषण करता है। प्रथम प्रणालीमें कथाकार पात्रके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी विवेचना नहीं करता। इसे नाटकीय प्रणाली कहा जाता है और दूसरी प्रणालीको जहाँ कथाकार पात्रकी भावनाओं और कार्य-कलाप आदिकी समीक्षा करता है और अन्तमें स्वयं उसके चरित्रका निर्णायक बन जाता है, 'विश्लेषणात्मक प्रणाली' से संबोधित किया जाता है। कहानीमें एक या दोनों प्रणालियोंका प्रयोग हो सकता है। पर उसमें विस्तृत विश्लेषणके

लिये क्षेत्र नहीं है। क्योंकि वह पूर्ण जीवन नहीं, जीवनांगका एक चित्र है।

कथोपकथन

कथोपकथन कहानीको रोचक बनाते हैं। वास्तवमें इस तत्त्वके द्वारा ही कहानी आगे बढ़ती और अपने उद्देश्यको छूती है। पात्रोंके चरित्र भी इसीसे प्रकाशित होते हैं। कहानीमें लम्बे सम्वादोंसे औत्सुक्य नष्ट हो जाता है; 'कथा' घर नहीं कर पाती। अतएव सम्वाद छोटे हों, चुस्त हों, लक्ष्यकी ओर ले जानेवाले हों।

शैली

शैली कहानी कहनेके ढंगका नाम है। कहानी:—(१) आत्मचरितके रूपमें कही जा सकती है मानों स्वयं कहानीकार अपने जीवनकी कथा-'विशेष' कह रहा हो। कहानीकी यह शैली 'मैं' के साथ चलती है।

(२) इतिहासके रूपमें कही जा सकती है जिसमें कहानीकार तटस्थ होकर घटनाओंका वर्णन करता जाता है। अधिकांश कहानियाँ इसी शैलीमें लिखी जाती हैं।

(३) डायरी और (४) पत्रोंमें भी कहानी कही जाती है।

शैलीके अन्तर्गत कहानी कहने ढंगके अतिरिक्त भाषाका भी विचार होता है। भाषाका रूप काव्यमय हो सकता है अथवा सरल—व्यावहारिक भी। काव्यमय शैलीमें हिन्दीकी प्रारंभिक कहानियां पाई जाती हैं। कहानियोंमें जीवनकी वास्तविकताका आभास लानेके लिये पात्रोंकी सामाजिक स्थितिके अनुरूप भाषाका प्रयोग होना चाहिए।

उद्देश्य

कहानीका स्पंदन है। वह केवल मनोरंजन हो सकता है; केवल शिक्षाप्रद अथवा दोनों भी। कहानीका लक्ष्य जीवनसम्बन्धी किसी

रहस्यका उद्‌घाटन, समाजकी किसी स्थितिविशेषकी आलोचना अथवा विशिष्ट मानव-प्रकृतिपर प्रकाश डालना भी हो सकता है। मानव-जीवन बड़ा जटिल है। अतएव उसकी जटिलताके किसी भी भागपर चोट की जा सकती है। उसकी किसी भी ग्रंथिको खोला जा सकता है। उद्देश्यके अनुसार ही कहानी रोमांचकारी, विनोदी या करुण हो सकती है; उपदेश या मनोरंजन-प्रधान हो सकती है। अच्छी कहानीमें उपदेश उसकी मनोरंजकताको नष्ट नहीं करता; वह ओटमें रहकर धीमे स्वरमें बोलता है। 'पो' कहता है—पहले यह सोच लो कि तुम किस प्रभावको उत्पन्न करना चाहते हो। बस उसीके आधारपर पात्र और घटनाओंको चुन लो; कहानी बन जायगी।

कहानी भी अन्य कलाओंकी भाँति सौन्दर्यानुभूतिकी अभिव्यक्ति है और कहानीकारकी यह अनुभूति जितनी हो गहरी होती है वह जीवनके रहस्यको—सत्य—को उतने ही संयत रूपमें व्यक्त करता है। सौन्दर्यानुभूतिको ही बर्नार्ड शा सरस अनुभव कहते हैं। वस्तु-जगत जब कहानीकारके हृदयमें भाव-जगत बन जाता है, जब वह अपने समाजके जीवन-व्यापारोंमें तादात्म्य स्थापित कर लेता है तभी वह आनन्द-से विभोर होता है और इसी विभोरताको हम सरस अनुभव कह सकते हैं। यही कहानीका सत्य है और सत्य ही सुन्दर है। कहानीकार जब अपने मनकी बात कहता है तभी कहानीमें प्रभाव उत्पन्न करनेकी क्षमता पैदा होती है। अनुभूत सत्यको व्यक्त करनेमें संयमकी आवश्यकता होती है। जो सत्य जन-मनको उन्नत करता है; उसे भुलाता नहीं—जगाता है, वही अभिव्यक्तिका उद्देश्य होना चाहिए। प्रेमचंदने उचित ही लिखा है, 'संयममें शक्ति है और शक्ति ही आनन्दकी बुनियाद है।'

इस प्रकार कहानीका उद्देश्य केवल कहानी कहना ही नहीं है, कहानीके द्वारा हमें भी कुछ कहना है। और यह 'कुछ' इस ढंगसे कहा जाय कि हमारा अन्तर्मन अनजाने उसे ग्रहण कर मुग्ध हो उठे—आनन्दसे भीग उठे।

उद्देश्यके अनुसार ही कहानीके दो रूप हमारे सामने आ जाते हैं। वे हैं—यथार्थवादी और आदर्शवादी। यदि कहानीकारका लक्ष्य या उद्देश्य जीवनका प्रतिबिम्ब अंकित करना है, तो उसकी कहानी 'यथार्थवाद' का रूप धारण करेगी और यदि कहानीकार 'जीवन क्या होना चाहिए' की दृष्टिसे कहानी लिखेगा, तो उसमें उसे ऐसे पात्रोंकी कथा अंकित करनी पड़ेगी, जो इस लोकके होनेपर भी अपर लोकके जान पड़ेंगे। ऐसी कहानी आदर्शवादी कहानी कहलायेगी। यह कुतूहल उत्पन्न कर सकती है, हमें आतङ्कित भी कर सकती है पर हममें अपनापन नहीं भर सकती। हम पात्रोंको अपने निकट अनुभव नहीं कर सकते। प्रेमचंदने ऐसी कहानीको उत्तम माना है जिसमें यथार्थ और आदर्श दोनोंका समन्वय हो। ऐसी रचनाको उन्होंने आदर्शोन्मुख यथार्थवादकी कहानी कहा है। ऐसी कहानीके पैर धरतीपर रहते हैं पर आँखें आकाशकी ओर उठी रहती हैं। आजका कहानीकार कल्पनाके लोकमें न विचर कर इसी लोकके राजमार्गपर, चौराहेपर, गली-कूचेमें, खेतों-खलिहानोंमें चक्कर लगाता है और वहाँसे अनुभवके सत्यको ग्रहण करता है।

यह सच है कि रूसी साहित्यसे प्रेरित 'वादों'के फेरमें कतिपय हिन्दी कथाकारोंने भारतीय समाजको रूसी चोली पहिनाना प्रारंभ कर दिया है, विवाहित जीवनकी व्यर्थता और स्त्री-पुरुषके यौन सम्बन्धकी स्वच्छंदता-पर जोर दिया जाने लगा है। संभवतः यथार्थवादकी इसी विडम्बनासे खिन्न

होकर प्रगतिशील लेखक-संघके मंत्री श्री सज्जाद जहीरने लिखा था–"हम प्रगतिशील लेखकोंसे यथार्थ चित्रणकी माँग करते हैं लेकिन यथार्थ चित्रणका यह अर्थ कदापि नहीं कि प्रत्येक वास्तविकताको ज्योंका त्यों—हूबहू—चित्रित कर दिया जाय। प्रगतिशील यथार्थ चित्रणका अर्थ यह है कि अनेक और विभिन्न यथार्थताओंमेंसे उन तत्त्वोंका चयन किया जाय जो व्यक्ति और समाजके लिये अपेक्षित रूपसे अधिक महत्त्व रखते हैं और फिर इनको इस प्रकार सम्मुख लाया जाय कि इनसे वास्ता पड़नेपर मनुष्य स्वाधीनता और नैतिक उत्थानके उस राजमार्गपर और बढ़ते रहनेके लिये तैयार हो सकें जो वर्तमान युगमें उन्हें आत्मोन्नति, बौद्धिक सजगता और शारीरिक स्वास्थ्यकी मंजिल तक ले जा सकता है।" स्वर्गीया सरोजिनी नायडूने भी एक बार हैदराबाद-प्रगतिशील लेखक-संघमें कहा था—"यथार्थवाद ही सब कुछ नहीं है। हमें उसके ऊपर उठना चाहिए।" संक्षेपमें कहानीका उद्देश्य सात्त्विक आनन्द प्रदान करना है और यह आनन्द तभी प्राप्त किया जा सकता है जब हम जीवनके 'सत्य' के साथ 'शिव' तक भी पहुँच सकें।

कहानीके विभिन्न भेद

कथावस्तुके स्रोतके अनुसार कहानी ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और जासूसी कहला सकती है और अंतमें जिस 'भाव' को वह उद्दीप्त करती है उसके अनुसार शृंगार, करुण, हास्य भयानक आदि रसकी भी समझी जाती है। कहानीके तत्त्व विशेषकी प्रधानताके अनुसार वह वस्तु या घटना-प्रधान, पात्र या चरित्र-प्रधान भी कहला सकती है।

कहानीका विस्तार

कहानीका विस्तार दो पंक्तिसे लेकर कई पृष्ठोंका हो सकता है। संसारकी सबसे छोटी कहानी यहाँ दी जाती है:—

"दो यात्री साथ साथ रेलके डब्बेमें बैठे यात्रा कर रहे थे। बातचीतके सिलसिलेमें एकने कहा—'मुझे भूतोंमें विश्वास नहीं है।' दूसरा मुसकुराकर बोल उठा–'सचमुच?' और गायब हो गया।"

'कला' विस्तारपूर्वक वर्णनमें नहीं, विस्तारके इंगितमें है–पाठककी कल्पनाको उत्तेजना देनेमें है।

कहानीका विकास

जबसे मनुष्यने अपने जीवन-व्यापारोंके प्रति सजग अनुराग अनुभव किया और उसे व्यक्त करनेकी अदम्य वासनासे वह अभिभूत हुआ, तभीसे कहानीका जन्म माना जा सकता है। मानव-जागरणके प्राचीनतम ग्रन्थ—उपनिषद्–ग्रन्थोंमें 'कहानी' विद्यमान है, जो जीवन-तत्त्वोंकी व्याख्या करती है। पर रससे सिक्त करनेवाली कहानी ऐहिक संस्कृत-साहित्य-युगकी उपज है। संस्कृत साहित्य-शास्त्रोंमें 'कथा' और 'आख्यायिका' शब्दोंकी व्याख्या है। कथामें आधुनिक 'Fiction' (गल्प या गप्प) का भाव है, जिसकी वस्तु सर्वथा कल्पित होती है और आख्यायिकामें वस्तु इतिहासका सूत्र पकड़ कर चलती है। संस्कृत साहित्यमें 'गुणाढ्य' की बृहत्कथाका, जो 'पैशाची' भाषामें लिखी गई थी, और जिसकी प्रशंसा बाण आदिने मुक्त कंठसे की है मूल ग्रन्थ अप्राप्य है पर उसका कुछ अंश संस्कृतमें उल्था होकर 'बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह' 'बृहत्कथा-मंजरी' और 'कथा-सरित्सागर' के रूपमें रक्षित है। 'गुणाढ्य' की कथामें अलंकारिता कम है, 'कथात्व' अधिक है। उनके पश्चात्, सुबन्धकी वासवदत्ता और बाणकी कादंबरीने संस्कृत कथा-साहित्यको सरसतासे अनुप्राणित किया। उनमें भाषाकी अलंकारिता, कथा-सूत्रकी अविच्छिन्नता और रसकी परिपक्वता–तीनोंकी मधुर त्रिवेणी बहती है। काव्यकी भाँति संस्कृत-युगकी कथाका लक्ष्य भी

रस-संचार है। आजका आंग्ल साहित्य-शास्त्री भी सभी सृजनात्मक साहित्यका उद्देश्य रस-संचार मानता है।

यद्यपि हमारे प्राचीन साहित्यमें कहानीकी सुन्दर परंपरा विद्यमान है, तो भी हिन्दी-कहानीका विकास उस परंपराकी कड़ी नहीं है। वह पाश्चात्य कहानी-कलासे प्रेरित एवं पोषित है।

पश्चिममें आधुनिक कहानी सोलहवीं शताब्दीकी देन है। वहाँकी औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) ने जनताके जीवन और परिणामतः साहित्यको प्रभावित कर कहानीको नई गति, नई टेकनिक और नई विचार-धारा प्रदान की। जीवन-संघर्षकी तीव्रताके कारण जनताके पास साहित्य-विलासके लिए समयका अभाव रहनेसे छोटी कहानीका जन्म हुआ। अमेरिका, फ्रान्स और रूसमें उसका प्रारंभ हुआ। अमेरिकन कथाकार 'पो' ने सर्वप्रथम प्रभाव और लक्ष्यकी एकतापर ज़ोर दिया। रूसी कथाकार तुर्गनेव, गोर्की और टालस्टायने उत्पीड़ितोंके प्रति सहानुभूति प्रकट कर कहानीको जनताके अधिक सन्निकट लानेका यत्न किया। फ्रान्सीसी लेखकों, विशेषकर ज़ोला और मोपाँसाने उद्देश्य, प्रभाव और नाटकीयपनके समन्वयके साथ एक पात्र और एक दृश्यसे प्रभावित कहानियाँ लिखीं। उनका जीवनके एक पहलू (Phase) का चित्रण बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। पाश्चात्य कहानी-साहित्यका प्रभाव भारतीय साहित्यपर सीधा पड़ा है। बँगलामें उसकी छायासे बंगाली कहानीका रचनातंत्र अधिक आकर्षक हो गया था। अतः हिन्दी कथा-साहित्य सबसे पहले उसीसे उच्छ्वसित होने लगा। यों ऐतिहासिक दृष्टिसे इंशाअल्लाकी रानी केतकीकी कहानी हिन्दीकी प्रथम कहानी मानी जाती है परंतु उसमें

आधुनिक कहानी-तत्त्वोंका समावेश नहीं है। गहमरीकी बंगलासे अनूदित जासूसी कहानियोंके बाद किशोरीलाल गोस्वामीकी सरस्वतीमें लगभग सन् १६०० में प्रकाशित 'इन्दुमती' हिन्दीकी प्रथम मौलिक कहानी मानी जाती है। उसके बाद पं० रामचन्द्र शुक्लकी 'ग्यारह वर्षका समय' प्रकाशित हुई। बंग-महिलाकी 'दुलाईवाली' कहानी अधिक मार्मिक और भाव-प्रधान है। जयशंकरप्रसादने कल्पना और भावुकताको लेकर 'इन्दु' में जो कहानियाँ प्रकाशित की हैं, वे अपना अलग ही मार्ग इंगित करती हैं। हास्य-रसकी कहानीका प्रारंभ चांदमें जी० पी० श्रीवास्तवके द्वारा हुआ। सन् १९१३ में पं० विश्वम्भर नाथशर्मा कौशिककी रक्षाबंधन कहानीकी ओर हिन्दी जनताका ध्यान आकर्षित हुआ। उनके गृहस्थ-जीवनके चित्र यथार्थताके अधिक सन्निकट हैं। इसी कालमें राजा राधिकारमण सिंह, पं० ज्वालादत्त शर्मा, पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' आदिका कहानी-क्षेत्रमें प्रवेश होता है। श्रीप्रेमचंद्रकी कहानियाँ सं. १९७३ में प्रकाशित होने लगीं। प्रेमचंद्रने गाँधी-युगसे प्रभावित हो अपनी कहानियोंमें ग्रामीण उत्पीडित जनताके जीवनका मर्मस्पर्शी चित्रण किया। काव्यात्मक कहानी लिखनेकी ओर चंडीप्रसाद 'हृदयेश' पहली बार उन्मुख हुए। संभवतः वे संस्कृतकी आख्यायिकाओंकी शैली हिन्दीमें प्रचलित करना चाहते थे। इसी युगमें सुदर्शन, उग्र, जैनेन्द्रकुमार, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय, अन्नपूर्णानंद, वृन्दावनलाल, सुभद्रा, इलाचंद्र, मोहनसिंह आदि सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक विषयोंको लेकर अवतीर्ण हुए। आजके प्रगतिवादी लेखकोंमें यशपाल, पहाड़ी, रांगेय राघव आदि जीवनकी यथार्थताको उसके नग्न रूपमें प्रस्तुत कर रहे हैं। आजकी कहानी एक ओर 'फ्राइड'के यौन-वादसे और दूसरी ओर कार्ल मार्क्सके साम्यवादसे अनुप्राणित हो रही है। इसमें संदेह नहीं, रचना-तंत्रकी दृष्टिसे वह उत्तरोत्तर जीवनके

सन्निकट होती जा रही है। बहुत संभव है, कहानी जीवनके इतने नजदीक पहुँच जाय कि मानव-चरित्र और कहानीमें कोई भेद ही न रह सके। इसीसे कहानीके अंग रेखा-चित्रके पल्लवित होनेकी बड़ी संभावना है। क्योंकि रेखा-चित्रमें कल्पना नहीं, प्रत्यक्ष जीवनका चित्र होता है। अंग्रेजीमें गार्डिनरके रेखा-चित्र बहुत प्रसिद्ध हैं। हिन्दीमें सर्वश्री बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा (संपादक, विशाल भारत), रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि इस कलाके रूपको भिन्न भिन्न प्रकारसे सँवार रहे हैं।

आधुनिक हिन्दी कहानी

नये युगकी हिन्दी कहानियोंके संबंधमें दो बातें बड़े विश्वासके साथ बहुत ही निर्विवाद रूपमें कही जाती हैं। एक यह कि ये कहानियाँ आधुनिक पश्चिमी कहानियोंसे प्रभावित हैं और उन्हींके आधारपर लिखी जा रही हैं। दूसरी यह कि इन कहानियोंका प्राचीन भारतीय कथा-साहित्यसे कोई क्रमागत संबंध नहीं है। किन्तु मुझे ये दोनों ही बातें सुविचारित नहीं जान पड़तीं और सहसा यह मान लेनेका कोई कारण नहीं दीखता कि नई हिन्दी कहानियोंकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है अथवा प्राचीन कथा-साहित्यसे इनका कोई तात्त्विक साम्य नहीं है।

आरंभमें ही यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मेरा यह मत देश-प्रेमकी किसी संकीर्ण भावनासे प्रेरित होकर नहीं बनाया गया, न इसके मूलमें प्राचीनप्रियताकी कोई अहेतुक धारणा ही है। साहित्यिक इति-हासके सभी विद्यार्थी यह जानते हैं कि प्राचीन भारतीय कहानियाँ अपने समयके सभ्य संसारमें कितना प्रभाव रखती थीं और उनका कितना ऋण संसारके कथा-साहित्यपर है। यदि आज हिन्दी कहानियाँ पश्चिमसे प्रेरणा ले रही हैं तो यह पूर्ववर्त्ती ऋणका शोध ही माना जायगा। ऐसी अवस्थामें हम बिना किसी हिचकके वास्तविक स्थितिका उल्लेख कर सकते हैं।

इन नई कहानियोंका प्राचीन कहानियोंसे असंबद्ध होना भी सिद्ध नहीं होता, यद्यपि विषय, शैली और उद्देश्य आदिमें पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। यह परिवर्तन तो परिस्थितिका परिणाम है, स्वाभाविक विकासका सूचक है। भारत ही नहीं संसारके अन्य देशोंके प्राचीन और नवीन

कथा-साहित्यके बीच भी यही अंतर दिखाई देता है। किन्तु उसे परम्परा टूटना या तात्त्विक संबंध-विच्छेद नहीं कहा जा सकता। फिर भी यदि कोई कहे कि आधुनिक कहानी, वह भारतकी हो या किसी अन्य देशकी, प्राचीन कहानीसे मूलतः भिन्न सृष्टि है, तो इसके लिए अधिक विश्वसनीय प्रमाणोंकी आवश्यकता होगी।

हिन्दी कहानियोंके वर्तमान विकासपर दृष्टि डालते ही 'नासिकेतोपाख्यान' और 'रानी केतकीकी कहानी' जैसी रचनाएँ सामने आती हैं, जो अपने नामसे ही पुरानेपनकी सूचना देती हैं। चमत्कारपूर्ण और विस्मयोद्बोधक प्रणालीसे किसी उपदेश-विशेषकी योजना अथवा किसी मार्मिक जीवन-वृत्तका उल्लेख पुरानी कथाओंकी विशेषता थी। इनके अतिरिक्त कहानीकी तीसरी शैली वह थी जिसमें काल्पनिक घटनावलीका मुख्य आकर्षण रहता था, मार्मिकता या उपदेशकी योजना भी नही होती थी। इस प्रकारकी कहानियाँ नव-वयके बालकोंके लिए अधिक उपयुक्त होती थीं और इनमें राक्षसों या परियोंकी प्रधानता रहती थी।

ऊपर उल्लेख की गई कहानियोंमें यही प्राचीन कथा-शैली पाई जाती है। संपूर्ण जीवन-वृत्तको संक्षेपसे उपस्थित करनेका प्रयत्न पाया जाता है। समय, स्थान और वस्तुके चयनका, बाह्य जीवनकी किसी स्थिति-विशेष अथवा आंतरिक जीवनकी किसी वृत्ति-विशेष या रहस्य-विशेषके उद्घाटनका प्रयास इन कहानियोंमें लक्षित नहीं होता। संपूर्ण जीवन अपनी स्थूलतामें जिन तथ्योंको अभिव्यक्त करता है उन्हें छोड़कर उसके विभिन्न अंगों, परिस्थितियों और पहलुओंकी ओर ध्यान नहीं गया। कहानीके भीतर कथा-विकासके ही उपकरण न थे, कोरी वर्णनात्मक सामग्री जुड़ी हुई थी।

आगे चलकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके साथियोंने संपूर्ण जीवन-चर्याका पल्ला छोड़कर उसके प्रसंगों और प्रकीर्णक अंशोंको अपनाया और उन्हें पृथक् वस्तुके रूपमें स्वतंत्र सत्ता देकर या तो निबंध या निबंधात्मक कहानियाँ लिखीं जो विस्मयात्मक और उपदेशात्मक उपकरणोंके अतिरिक्त विनोद और व्यंगकी विशेषताएँ भी रखती हैं। इनका आकार आधुनिक कहानीके उपयुक्त है और इनमें अनावश्यक वस्तु-विस्तार भी नहीं है। 'कथा' में जो प्राचीन इतिवृत्तके ग्रहणकी परिपाटी थी, उसके स्थानपर सामायिक जीवनकी कल्पित 'कहानी' का उदय हो चला। भूतके स्थानपर वर्तमान कालका प्रयोग भारतेन्दु-युगकी हिन्दी कहानीमें ही प्रथम बार हुआ। यहींसे हिन्दी कहानीके नवीन स्वरूपका आरंभ होता है।

इस समय तक आधुनिक पाश्चात्य कहानी भी अपना निर्माण कर चुकी थी। हम कह सकते हैं कि वह भारतेन्दु-युगकी कहानियोंकी अपेक्षा कहीं अधिक कलापूर्ण और विकसित भी थी। कहानीके लिए सबसे आवश्यक वस्तु है घटना-संवलित कथानकका ऐसा प्रसार जो अपनी सीमामें एक प्रभावशाली और असाधारण जीवन-मर्मका एक-ही-में पर्यवसान हो जाना चाहिए। किसी ओरसे असंगति, हेर-फेर, क्रम-भंगके लिए स्थान न रहे। साथ ही सारी कहानी किसी निर्णायक घटना-केन्द्रकी ओर अनुधावित हो रही हो।

जीवन मर्म या उद्देश्य ही कहानीका प्राण है और कथानक ही प्राणस्थापक शरीर है, इसके अतिरिक्त कोई तीसरा तत्त्व कहानीके लिए अपेक्षित नहीं। वर्तमान कहानी जीवन-मर्मकी प्रभावशाली व्यंजनाके लिए अन्य तत्त्वकी भी अकांक्षा रखती है—समय और स्थानके संकलनकी। किन्तु इस प्रकार तो कहानी-कलाके कुछ अन्य अंग भी

आवश्यक होंगे जैसे देश, काल, पात्र, आदि। किन्तु जहाँ तक मूल तत्त्वोंका संबंध है वस्तु और उद्देश्य ही कहानीके साधन-साध्य हैं। इस दृष्टिसे देखनेपर प्राचीन युगसे कहानियोंका वही स्वरूप रहा है, यद्यपि शैली और विन्यासमें बहुतसे समयानुकूल परिवर्तन हो गए हैं।

वस्तु-चयनकी दृष्टिसे आजकी कहानी वास्तविकताका अधिक सच्चा आभास देती है। पुरानी कहानी उद्देश्यको प्रमुख मानकर विस्मयजनक कथानकके सहारे अपनी उद्देश्य-व्यंजना कर देती थी—उपदेश दे डालती थी; किन्तु नवीन कहानी शैली, वस्तु या साधनको सजानेमें अधिक व्यस्त रहती है, यद्यपि,ऐसा करनेमें साध्यका ध्यान छूटता नहीं। सच तो यह है कि वर्तमान कहानी अधिक कलापूर्ण और विश्वसनीय रूपमें अपना कार्य पूरा करती है।

वर्तमान् कहानीका क्षेत्र भी अधिक व्यापक हो गया है। प्राचीन कहानी प्रायः नीति, व्यवहार और मनोविज्ञानके मोटे रहस्योंको कथात्मक पद्धतिसे व्यक्त करती थी और ऐसा करते हुए किसी न किसी अनुरंजक या विस्मयोद्बोधक कथानकको चुन लेती थी। अन्योक्तिकी-सी पद्धति रहा करती थी। किन्तु नवीन कहानी साध्यको साधकसे, उद्देश्यको कथानकसे एकदम अभिन्न बनाकर चलती है और कभी कभी तो जीवन-घटना ही, कहानीकी वस्तु ही, अपना साध्य आप बन जाती है। घटनाके मर्ममें ही उद्देश्य छिपा रहता है।

मूल तत्वोंकी कमीके कारण केवल वस्तु और उद्देश्यके ताने-बानेको एकमें मिलाकर कहानी तैयार कर देनेकी सुविधाके कारण शैलीके प्रधान, जीवन-मर्मकी महत्त्वपूर्ण योजना, और इन दोनोंके पारस्परिक सामंजस्यकी ओर कहानी-लेखक पूरा ध्यान दिया करता है। वह किसी दैनिक जीवनकी घटना और दृश्यको अपने कार्यके लिए अधिक उपयोगी

समझता है, क्योंकि उससे यथार्थकी अनुभूति अधिक सरलतासे हो सकती है, किन्तु कभी कभी असाधारण घटना या संभावित कथानककी योजना भी कहानी-लेखक कर सकता है।

यह तो हुई वस्तु या कथानककी बात। उद्देश्य जीवन-मर्मकी अभिव्यक्तिमें कहानी-लेखकका वास्तविक उत्तरदायित्व और उसकी क्षमता प्रकट होती है। दैनिक घटनाको लेकर यदि नित्यप्रतिका कोई दृश्य ही दिखा दिया गया अथवा किसी ऐसे तथ्यको उपस्थित कर दिया गया जिसमें न कोई सूक्ष्मदर्शिता है, न कोई तलस्पर्शी प्रयोजन, तो ऐसी कहानी यथार्थ भले ही हो, श्रेष्ठ और स्मरणीय कदापि न होगी। जीवन-तत्त्वोंकी जितनी सूक्ष्म और असाधारण पहचान कहानी-लेखकको होगी उसकी कलाका उतना ही अधिक मूल्य होगा।

सूक्ष्मदर्शिता, अनुभव और विवेककी व्यापकता और विशालता प्राचीन समयसे ही कहानीकारके साधन-संबल रहे हैं। निरर्थक या स्वल्पार्थक कहानी बहुत दिनोंतक जीवित नहीं रह सकती। यही कारण है कि आजकी कहानियोंकी बाढ़में स्थायी और स्मरणीय सामग्री थोड़ी ही है। बहुतसे नौसिखुए लेखक बिना किसी अनुभव या बहुज्ञताके प्रेम-कहानियोंके क्षेत्रमें कलम चलाया करते हैं, इससे, कहानियोंके प्रति विवेकवान् व्यक्तियोंकी श्रद्धा घट जाय तो आश्चर्य क्या है।

अनुभव और विवेकके संबंधमें कुछ अन्य बातें भी उल्लेखनीय हैं। अनुभव अनेक क्षेत्रोंका और अनेक श्रेणियोंका हो सकता है, विवेक भी रुचि और योग्यताके अनुसार अनेक कोटियोंका होता है। कहानियोंमें हम वर्तमान समय और समाजके अनुभवोंको ही विशेष रूपसे स्थान दे सकते हैं अथवा ऐसे अनुभवोंको स्थापित कर सकते हैं जो मनुष्यकी स्थायी विशेषताओं और प्रवृत्तियोंके लिए उपयोगी हैं। जिन कहानियोंका

आधार जितना ही व्यापक और सार्वजनिक अनुभव होगा, उनमें उतनी ही अधिक सांकेतिकता होगी और मानव-हृदयको वह उतना ही अधिक स्पर्श करेगा।

इसी प्रकार हमारे अनुभवोंका क्षेत्र मनुष्यकी सद्वासनाएँ या सुप्रवृत्तियाँ भी हो सकती हैं और असद्वासनाएँ या कुप्रवृत्तियाँ भी। परिस्थिति-भेदसे मनुष्यकी मनोभावनाएँ भी भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करती हैं। इन सूक्ष्म भेदोंका परिदर्शन भी कहानियोंका विषय बन सकता है। परिस्थिति और मनोविज्ञानका चित्रण करनेवाली कहानियाँ इसी आधारपर लिखी जाती हैं। ज्ञान तो प्रत्येक क्षेत्रमें एक रस है किन्तु जीवनके असदंशों या परिस्थितिके वैचित्र्योंपर बहुत अधिक ज्ञान-प्रदर्शन संभवतः अधिक उपयोगी न होगा।

ज्ञानके लिए ज्ञान या अनुभव भारतीय दृष्टिमें कभी श्रेष्ठस्थान नहीं पा सका। ज्ञानका भी कुछ आदर्श या उद्देश्य होना ही चाहिये। इसलिये भारतीय दर्शनोंमें ज्ञानका भी परिणाम मुक्ति या आनंद ठहराया गया है। भारती कहानियाँ बहुत अधिक मनोवैज्ञानिक चर्या अथवा परिस्थिति-चित्रणमें—यथार्थवादी सृष्टिमें—रूचि नहीं रखतीं। अतएव हिन्दी कहानियोंमें पाश्चात्य कहानियोंकी अपेक्षा वस्तुस्थिति या यथार्थको छोड़कर आदर्श-स्थापनाका प्रयास अधिक रहा है, यद्यपि वास्तविकताकी अवहेलना करके नहीं।

कहानियोंके क्षेत्रमें दूसरी भारतीय प्रवृत्ति यह रही है कि उनमें कोरे कल्पनात्मक अनुरंजनकी अपेक्षा व्यवहारिक ज्ञानका अधिक संनिवेश हुआ है। 'सहस्र-रजनी-चरित्र'की-सी काल्पनिकता भारतीय कहानियोंमें कम देखी जाती है। तिलस्म या जासूसी प्रवृत्तिका प्रायः हमारी कहानियोंमें अभाव रहा है। इसके स्थानपर सांसारिक अनुभवोंका

अधिक उपयोग उनमें किया गया गया है। भारतीय कहानीकारोंने प्रेमचर्या तथा कल्पना-क्षेत्रमें रमणकी अपेक्षा विवेकपूर्ण जीवनानुभवको कहानियोंमें अधिक स्थान दिया है।

मोटे तौरपर कहानीके कथानक और उसके उद्देश्यपर ऊपरकी बातें कहनेके पश्चात् दोनोंके सामंजस्यके प्रश्नको लीजिए। ताने-बानेकी भाँति दोनोंका एकरूप होना आवश्यक है, यह उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वास्तवमें कहानीकी वस्तु या कथा और उसके उद्देश्य या जीवन-मर्मके सामंजस्यका अर्थ है दोनोंकी पृथक् सत्ताका लोप हो जाना। कहानी अपनेमें पूर्ण हो और जीवन-मर्म भी अपनेमें पूर्ण हो। अथवा कहानी ही जीवन-चित्र और जीवन-चित्र ही कहानी बन जाय। दोनोंका अंतर जितना ही अप्रत्यक्ष होगा, कहानी उतनी ही अधिक सफल मानी जायगी। उसका प्रभाव उतना ही स्थायी होगा।

वस्तु और उद्देश्यके इसी अभेदके कारण कहानीकी व्याख्या 'अर्थपूर्ण कथानक' कहकर भी की जा सकती है। इस प्रकार कथानक ही कहानीका एक मात्र आधार रह जाता है और इसी कारण कतिपय समीक्षक कहानीको 'अनुरंजक आख्यान' भी कहा करते हैं। इस प्रकार कहानीमें रूप शरीर या शैलीकी ही विशेषता परिलक्षित होती है। तभी कहानी-लेखक अपनी कथाको सजानेमें, उसे चित्रकी भाँति रूपों-रंगोंसे इस प्रकार सुसज्जित कर देनेमें कि वह अपने मर्मकी व्यंजना आप ही कर सके, अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। जिस प्रकार चित्रमें सारा खेल रेखाओं और रंगोंका ही होता है, सारा प्रभाव इन साधनोंपर ही अवलंबित रहता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ कहानीमें व्यंजक और व्यंगका—कथा और उद्देश्यका—एकीकरण हो जाता है।

किन्तु कभी-कभी कुछ कहानियाँ उद्देश्यकी इतनी प्रमुखता लेकर

लिखी जाती हैं कि साध्य और साधनकी समरूपता हो ही नहीं पाती। उद्देश्य अलग और कथानक अलग मारा मारा फिरता है। ऐसे लखकोंको कहानी-कलाका पल्ला छोड़कर निबंध-लेखनका अभ्यास करना चाहिए। इसी प्रकार जो लेखक उद्देश्यकी कुछ भी चिन्ता न कर कहानीके वेश-विन्यासमें अथवा चरित्रोंके उद्घाटनमें या जीवन-दशाओंके चित्रण-मात्रमें अनुरक्ति रखते हैं उन्हें उपन्यास-कलाकी पगडंडी पकड़नी चाहिए।

अब संभवतः कहानीकी रूपरेखा थोड़ी-बहुत स्पष्ट हुई होगी, किन्तु देश, काल, चरित्र और कथाके संकलन सम्बन्धी उपांगोंकी ओर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। उपांग हम इन्हें इसलिये कहते हैं कि ये कहानीके अनिवार्य अंग नहीं हैं और केवल साधनरूपमें, वास्तविकताका रंग लानेके लिये, इनका उपयोग किया जाता है। प्राचीन कहानियोंमें इन तत्त्वोंके लिये कोई स्थान न था और वर्तमान कहानीमें भी ये गौण स्थान ही रखते हैं। इसलिये मैंने आरंभमें कहा भी है कि पुरानी कथाको आधुनिक कहानीसे नितांत पृथक् या विजातीय वस्तु नहीं माना जा सकता।

उपन्यासमें देश-काल और चरित्र आते हैं साध्य बनकर, किन्तु कहानी-मे इतना स्थान कहाँ कि देश-काल और चरित्रकी स्वतंत्र व्याख्या की जा सके। वहाँ तो किसी असाधारण परिस्थितिमें किसी असाधारण परि-णामकी ओर ले जानेवाली घटनाएँ और पात्र रहा करते हैं। कहानीमें देश-कालका उपयोग उस चलित परिस्थितिकी एक झाँकी दिखाने-भरके लिये किया जाता है और पात्रका उपयोग भी परिणामका साक्षा-त्कार करनेके निमित्त ही हुआ करता है। इससे अधिक इनका कोई उपयोग कहानीमें नहीं हो सकता, और अधिकतर तो इतना भी उप-योग उनका नहीं होता। प्रायः वास्तविकताका आलंकारिक 'भार'

उपस्थित करनेके लिये देश, काल और पात्रका विनियोग कहानियोंमें होता है।

कहानी सदैव परिणामप्रधान होती है और घटनाएँ ही उसका संबल हैं। इसलिये कहानीमें घटनाओंका आधार तो होगा ही। कहानीमें घटनाओंकी योजना और उनका आकर्षण नाटकके ढंगका होता है। कहानी इस लिये कला-सृष्टि है। उपन्यासमें यह बात नहीं होती। नाटककी ही भाँति कहानीका मुख्य आकर्षण घटना-प्रगति ही है। इस कारण चरित्र-प्रधान देश-काल-प्रधान या कल्पना-प्रधान कहानीका नाम लेना कहानीसंबन्धी तथ्यसे दूर पहुँच जाना है। कहानीमें प्रधान वह 'वस्तु' होती है जो आश्चर्यकारक या असाधारण 'परिणाम' या 'प्रयोजन' की सिद्धि करती है।

इसी वस्तु-योजनाको अधिकसे अधिक प्रभावशाली बनानेके लिये कहानीमें देश-काल-संकलनका प्रयोग किया जाता है। समस्त घटना परिणामसे संबद्ध और परिणामकी ओर अग्रसर होती है। उसके उत्थान और अवसानके बीच समय और स्थानका मंथर विधान नहीं हो सकता। समयकी बहुलता अथवा स्थानोंकी विविधता तभी आ सकती है जब कहानीकी वस्तु समय और स्थानके ही आधारपर विकसित हो रही हो। किन्तु यह अपवादस्वरूप कुछ ही कहानियोंके लिये आवश्यक होगा कि कहानीका वस्तु-चित्र समय और स्थानके पायोंपर खड़ा हो।

संक्षेपमें आधुनिक कहानीकी यही रूपरेखा है जो क्रमशः विकसित होकर पश्चिमी साहित्यमें प्रतिष्ठित हुई है। भारतेन्दुके पश्चात् हिन्दी कहानियाँ भी इसी पथपर चल पड़ीं। किंतु उन कतिपय भेदोंको छोड़कर जो प्राचीन और नवीन कहानीके बीच घटित हुए थे, हिन्दी कहानी भी अपने मूल स्वरूपसे एकदम उच्छिन्न नहीं हुई। मैं तो कहूँगा

कि हिन्दी कहानी अपनी प्राचीन उद्देश्य-प्रधान व्यावहारिक परंपराके अधिक निकट रहती आई है और जब जब उद्देश्यका विस्मरण हुआ है और कहानी अनिर्दिष्ट उद्देश्य लेकर लिखी गई है तब तब शैली और प्रभाव दोनों दृष्टिसे उसमें शिथिलता आई है। टाल्सटाय जैसे श्रेष्ठ विचारक और जीवनद्रष्टा श्रेष्ठ कहानी-लेखक भी हुए हैं। यद्यपि ऐसे लेखकोंकी भी कमी नहीं है जो बड़े विचारक होते हुए भी कहानी-निर्माणके कार्यमें उतने दक्ष नहीं सिद्ध हुए।

अँग्रेजी कहानियोंका आरंभ अँग्रेजीके उपन्यास-लेखकोंने ही किया था, इसलिये कहानी और उपन्यासके बीचका भेद बहुत दिनोंतक अस्पष्ट ही रहा, किंतु ज्यों ही कहानीकी स्वतंत्र कलाका आभास मिल गया, अँग्रेजीमें भी विशुद्ध कहानीका निर्माण होने लगा। कलाकी दृष्टिसे आधुनिक पाश्चात्य कहानीके सर्वश्रेष्ठ निर्माता फ्रांसीसी मोपासाँ, अनातोले फ्रांस, और रूसी तुर्गनेव, चेखव आदि लेखक हैं जिनकी कला मार्मिक और परिणामदर्शी जीवनांशको छाँट-छाँटकर प्रदर्शित करनेमें अत्यन्त कुशल है। ये सभी श्रेष्ठ कलाकार तो हैं ही, जीवनके प्रति इनकी अगाध आस्था है, साथ ही ये मनोविज्ञान और मानव-व्यवहारोंके पंडित हैं और इनमेंसे कुछ अपने युगके श्रेष्ठ विचारक भी हैं।

इन सब गुणोंका एक साथ संनिवेश नवीन हिन्दी कहानी-लेखकोंमें भले ही उस मात्रामें न हो जितना उक्त पाश्चात्य लेखकोंमें हैं, किन्तु दो बातें बहुत ही स्पष्ट हैं। एक यह कि हिन्दीमें इन गुणोंका विकास आशाप्रद है और यदि हिन्दीके पत्र तथा पाठक अनुवादकी चीजोंको छोड़कर, और साथ ही सस्ती सामग्रीका तिरस्कार कर निरन्तर एक विशिष्ट बौद्धिक सारकी कलापूर्ण कहानियोंका आग्रह करते रहें

और प्रेम कहानियोंका पिंड कुछ दिनोंके लिये छोड़ दें, तो हिन्दी कहानी फिरसे भारतीय कहानियोंकी पुरातन कीर्ति प्राप्त कर सकती है। दूसरी बात यह है कि हिन्दी कहानियोंमें स्वतंत्र कथाशैली, स्वतंत्र विचारदृष्टि और स्वतंत्र जीवन-चित्रणकी सत्ताका अभाव नहीं है।

वर्तमान समयमें जब मशीनपर काती और बुनी कहानियाँ विदेशसे आकर हमपर छापा मार रही हैं, और जब हिन्दी कहानी-लेखकोंके सम्मुख प्रचुर परिणाममें आनेवाली इस विदेशी वस्तुको हिन्दी साँचा देकर खपानेमें विशेष कठिनाई नहीं है, तब हिन्दी कहानीकार स्वतंत्र साधना और स्वतंत्र निर्माणके लिए क्यों और किस प्रकार उत्साहित हों? दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि संसारकी मनुष्य-जाति इस समय अपना पार्थक्य दूर कर, एक-सी ही वस्तु-स्थितिका सामना कर रही है। उसके सामने एक-सा ही जीवन, एक-सी ही समस्याएँ अतएव एकसा-ही समाधान उपस्थित है। ऐसी अवस्थामें हिन्दी कहानियोंकी स्वतंत्र स्थितिको अवकाश कहाँ है और आवश्यकता भी क्या है? एक ही प्रकारका प्रचार-कार्य संसार-भरके कहानी-साहित्यको करना है, इस समय मौलिकताकी माँग असामायिक और व्यर्थ है।

किन्तु मेरे विचारसे इस प्रकारकी धारणा एकदम निराधार और भ्रामक ही नहीं, हिन्दी कहानी और साहित्य मात्रके लिये अतिशय हानिकारक भी है। संस्कृतियोंका पोषण सदैव उनके मौलिक साहित्यसे ही संभव है। आजके सांस्कृतिक विकासके लिए केवल प्रचारात्मक साहित्यसे काम नहीं चल सकता। यदि आज मानव-संस्कृतियाँ एक दूसरेके निकट संपर्कमें आ रही हैं और यदि समान परिस्थितियाँ सभी राष्ट्रोंके सामने उपस्थित हैं, तो उन राष्ट्रोंकी सृजनात्मिका शक्तिके पूर्ण उन्मेषद्वारा ही वे एक दूसरेके हृदयके समीप आ सकते हैं। केवल बाहरी एकरूपता तो राजनीति या

सामाजिक परिस्थितियाँ ला सकती है, किन्तु सांस्कृतिक सम्मिलन और एकीकरण तो उनकी साहित्य-सृष्टियोंद्वारा घटित हो सकता है। राष्ट्रीय मनोभावों और जीवन-स्थितियोंका प्रदर्शन उस राष्ट्रका साहित्य ही कर सकता है और तभी राष्ट्रीय संस्कृतियोंका आदान-प्रदान और समन्वय भी संभव होगा। एककी नकल करके दूसरा राष्ट्र उसके प्रति अपना आदर भाव नहीं प्रकट कर सकता, न नकलके द्वारा कोई दूसरी समस्या हल हो सकती है।

अनुकरणकी वृत्ति ही असांस्कृतिक है और उससे राष्ट्रीय या अन्त-राष्ट्रीय कोई प्रश्न नहीं सुलझ सकता। हिन्दी कहानियाँ इस 'सांस्कृतिक साम्य' की मरीचिकामें न अब तक पड़ी हैं और न तब तक पड़ेंगी जब तक उनमें जीवन-शक्ति वर्तमान है। सांस्कृतिक समन्वय तो समान साहित्यिक उत्कर्षका परिणाम है न कि साहित्यिक एकरूपता सांस्कृतिक साम्यका परिणाम। अतएव हिन्दी कहानी-लेखक अपने राष्ट्रीय अनुभव और प्रतिभाका उपयोग सदैव स्वतंत्र-लेखनमें करेंगे।

कहानीके क्षेत्रमें अनुकरणकी तीन भूमियाँ हो सकती हैं—एक तो कहानीकी शैलीका अनुकरण, दूसरी कहानीमें प्रदर्शित जीवन-चर्याका अनुकरण। शैलीका अनुकरण तो किसी प्रकार क्षम्य हो सकता है, यदि हम उनकी शैलियोंको अपने काममें लाते हुए अपनी शैलियाँ भी उनके सन्मुख प्रस्तुत कर सकें और आदान-प्रदानके कार्यमें समर्थ हो सकें।

विचार-धाराओं और जीवन-दृष्टियोंकी समता भी किसी हद तक उपयुक्त कही जा सकती हैं, क्योंकि विचार-स्वातंत्र्य और समान मानवताके इस युगमें दार्शनिक समता अथवा विचार-साम्य वर्णित नहीं हो सकते; किन्तु जीवनकी वास्तविक परिस्थितियाँ, और रहन-सहन तथा वैयक्तिक या सामाजिक जीवन-चर्या अथवा नैतिक प्रतिमानोंमें एक दूसरे-

की नकल किसी प्रकार नहीं कर सकते। इस क्षेत्रमें नकलका अर्थ होगा हमारी स्वतन्त्र-चेतना और राष्ट्रीय प्रकृतिकी पूर्ण उपेक्षा। साहित्यके लिये इससे बढ़कर खतरनाक दूसरी वस्तु नहीं हो सकती।

हिन्दी कहानियोंमें स्वावलंबन और स्वतंत्र विकासकी प्रवृत्ति आरंभसे ही रही है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पश्चिमी कहानीके विकासित स्वरूपके प्रति हम अनावश्यक रूपसे लालायित नहीं हुए और धीरे-धीरे अपनी मंजिल आप ही तय करते आए हैं। भारतेन्दुके पश्चात् कुछ दिनों तक बंगाली कहानी-लेखकोंका प्रभाव हिन्दीपर दिख पड़ा किंतु प्रेमचंद और प्रसादकी कहानियोंके मौलिक स्वरूपमें प्रकट होते ही यह कुहासा भी हमारे कहानी-क्षितिजसे दूर हो गया।

कौशिक, सुदर्शन और ज्वालादत्तकी कहानियाँ इस अर्थमें घटना-प्रधान और भावनात्मक या सुधारात्मक ही कही जा सकती हैं कि उनके भीतर लंबे समयकी योजना रहती है और पात्रों या चरित्रोंका हृदय-परिवर्तन ही कहानियोंका परिणाम होता है। हृदय-परिवर्तन भी किन्हीं मनोवैज्ञानिक संघर्षोंद्वारा नहीं, बल्कि कहानीके सुधारात्मक आशयकी पूर्ति मात्रके लिए। इन कहानियोंका उद्देश्य जीवनके सूक्ष्म और मार्मिक पहलुओंका चित्रण न था, न इनमें परिस्थितिकी वास्तविकता या मनोवैज्ञानिक गंभीरता ही थी। गुलेरीजीकी 'उसने कहा था' कहानी भी बहुत अधिक स्थान और समय घेरती है और कहानीके नवीन प्रतिमानोंको देखते हुए विराट् या महाकथा कही जा सकती है।

लंबी कहानियाँ प्रसादने भी लिखी हैं और प्रेमचन्द्रजीने भी, किन्तु इन दोनोंकी कहानियोंमें 'उसने कहा था' की-सी बोझिल

विशालता नहीं है। प्रसादकी कहानियोंमें वातावरणका चित्रण विशुद्ध कहानीके लिये कुछ अधिक हो जाता है, किन्तु अतीतके वे कल्पना-चित्र विशुद्ध कहानी हैं भी नहीं। प्रसादकी कहानियोंमें कहानीकी अपेक्षा वस्तु-अंकनकी प्रवृत्ति अधिक है जिसके कारण उनकी कहानियोंमें आवश्यक गत्वरता नहीं आ सकी है। अतीतको सजीव करनेकी चिन्तामें प्रसाद घटना-सूत्रके साथ शीघ्र-गतिसे आगे नहीं बढ़ते, पाठकोंको बिलमाते चलते हैं। उनकी कहानियाँ, इसलिये, काव्यत्वके साथ उपस्थित होती हैं। प्रसादकी कहानियोंमें उद्देश्य या प्रयोजनका तत्त्व उतना स्पष्ट नहीं है, न उस तत्त्वसे बँधी हुई घटना-शृंखला ही वेगवती है। प्रसादकी कथाशैलीमें पर्याप्त आलंकारिकता है। सांस्कृतिक और भावनात्मक लेखनकी दृष्टिसे प्रसादकी कहानियाँ अनुपम हैं, किन्तु विशुद्ध कहानीके सब लक्षण उनमें घटित नहीं होते।

प्रेमचंद हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक कहे जा सकते हैं। कहानी कहनेकी उनकी नैसर्गिक प्रतिभा हिन्दीमें भी नहीं, आधुनिक भारतीय साहित्यमें बेजोड़ है। प्रेमचंद हमें आदिम भारतीय कहानीकारोंका स्मरण दिलाते हैं जिनके सभी गुण उनमें मौजूद हैं। कहा जाता हैं कि प्रेमचन्द मनोविज्ञानके पारदर्शी पंडित नहीं थे, किन्तु भारतीय प्रतिभा सूक्ष्म और निगूढ़ मनोगतियों या मानसिक तथ्यवादको ढूँढ़ते रहनेमें विशेषज्ञताका दावा कभी नहीं करती। किंतु मनकी मार्मिक गतियोंकी ओर विशेषतः आदर्शोन्मुख प्रवाह-धाराकी पकड़ प्रेमचन्दमें बड़ी विलक्षण है। प्रेमचन्दकी कथा-शैली अतिरंजना-प्रधान है, इस लिये उसमें मनोविनोदका अंश बराबर रहता है। करुणाकी अपेक्षा हास्य और व्यंगकी भाव-सृष्टि प्रेमचन्द

अधिक सफलतासे करते हैं। साधारण विवेक, अनुभवकी प्रौढता, आत्मविश्वास, और कथाका स्वाभाविक सौंदर्य प्रेमचन्दकी ऐसी विशेषताएँ हैं जो उन्हें हिन्दी कहानियोंका श्रेष्ठ निर्माता सिद्ध करती हैं। प्रेमचन्दकी सामाजिक दृष्टि अतिशय उदार और तथ्यपूर्ण है।

'उग्र' जी हिन्दीके प्रथम और प्रमुख राजनीतिक कहानी-लेखक हैं। उनकी आरंभिक उत्साहपूर्ण मार्मिक दृष्टिसे जब हम उनकी परवर्ती कहानियोंकी आस्थाहीन दृष्टिकी तुलना करते हैं तो आश्चर्यचकित रह जाते हैं। उदीयमान लेखकोंपर प्रतिकूल परिस्थितिका कैसा विघातक परिणाम पड़ सकता है, उग्रजी इसके उदाहरण हैं।

जैनेन्द्रकुमारकी कहानियोंसे हिन्दीमें एक नया उत्थान आरंभ हुआ। कलाकी दृष्टिसे कहानी अधिक सुन्दर हो गई। एक ही दृश्य या केन्द्रीय घटनासे जुड़े हुए कथानककी योजना करके समय और स्थानके संकलनका निर्वाह उन्हींकी कहानियोंसे आरंभ हुआ। प्रेमचन्दकी कथा-शैलीमें यह नाटकीय गुण इतना समृद्ध नहीं है। मार्मिक अवसरों और दृश्योंका चुनाव और प्रभावकी व्यंजना जैनेन्द्रजीकी कहानियोंमें बड़ी कुशलतापूर्वक की गई है। किंतु यह तबकी बात है जब वे विचार या दार्शनिकके रूपमें ख्यात नहीं हुए थे। जबसे उन्होंने यह नया बाना धारण किया, तबसे उनकी कहानियोंका वह समुन्नत स्वरूप बहुत ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलता।

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क और बिहारके राधाकृष्ण हिन्दीके प्रथम श्रेणीके कहानी-लेखक है। स्त्री-लेखिकाओंमें सुमित्राकुमारी, सुभद्राकुमारी, उषादेवी, और चन्द्रकिरणकी कहानियाँ प्रभावपूर्ण और सुपाठ्य हैं। कुछ नई प्रतिभाएँ उदय हो रही हैं और कुछ अकालमें ही अस्त हो गई हैं। कहानीकी वर्तमान

पत्रिकाएँ नवीन लेखकोंके लिए सबसे बड़ी बाधा हैं। पत्रिकाओंका प्रतिमान निम्न-कोटिका है क्योंकि उन्हें अर्द्ध-शिक्षित ग्राहकोंके पास पहुँचना होता है। नए लेखक इस संहारक प्रलोभनसे बचनेके लिये उद्यत नहीं है। यदि यही मनोवृत्ति बनी रही तो कहानियोंकी दौड़में हम विदेशोंका मुकाबिला और भी देरसे कर सकेंगे।

हिन्दी कहानीका नवीनतम स्वरूप प्रचारात्मक है। इसमें कुछ लाभ और कुछ हानियाँ बहुत ही स्पष्ट हैं। लाभ यह है कि कहानी बहुत ही नपी तुली और अनावश्यक भारसे रिक्त होती है। साथ ही यदि वह सामयिक जन-भावनाके संघटन या स्फूर्तिप्रदान और सामाजिक अन्यायके प्रतिशोधमें सहायक होती है, तो उससे व्यावहारिक लाभ भी होता ही है। किन्तु कभी कभी ये कहानियाँ अत्यंत संदिग्ध, एकांगी और वैयक्तिक मतोंका प्रचार करनेके निमित भी लिखी जाती हैं, विशेषकर प्राचीन इतिहासकी उद्घाटक कहानियाँ। मतप्रचारका कार्य चाहे वह किसी श्रेणीका क्यों न हो, कथाके स्वाभाविक निर्माणमें सहायकसे अधिक बाधक ही होता है। सबसे पहले वह हमारे अनुभवके क्षेत्रको संकुचित कर देता है। हमारी दृष्टि वास्तविक जीवनकी ओर न जाकर मतवादपर ही केन्द्रित हो जाती है और हम एक निर्णीत विचारको कहानीके साँचेमें ढालनेका कृत्रिम प्रयास करने लगते हैं।

हम मानते हैं कि आजका युग मतवादों और विचारोंके प्रचारका युग है। कहानी-लेखक कमरेमें बैठकर, पुस्तकोंको पढ़कर, कहानी लिखनेको बाध्य हैं। उनका संपर्क देशकी जनता और परिस्थितियोंसे एकदम समीपी नहीं है। हम यह भी जानते हैं कि इन प्रतिबंधोंके रहते भी कुछ बहुत ही सुन्दर कहानियाँ हिन्दीमें लिखी गई हैं। कहानीका माध्यम इस प्रकारके विचार-विज्ञापनके अनुकूल भी है, किन्तु जन-जीवनकी बहुलता

और व्यापकता और जीवनके संपर्कजन्य वास्तविक संवेदन इस प्रकारकी कहानीमें कहाँसे आ सकते हैं ? नवीनतम कहानियोंमें इसीलिये रचना-चमत्कार और बुद्धिवादका प्राधान्य रहता है। प्रेमचन्दकी कहानियोंमें जो वास्तविक जीवन-संपर्क और सहानुभूति है अथवा 'प्रसाद'की कहा-नियोंमें ऐतिहासिक कल्पनाकी मनोरमताके साथ मानव-स्वभावकी विविधता और परिस्थितियोंका जो वैचित्र्य है, वह नवीन कहानियोंमें बहुत ही विरल है। यशपाल और अज्ञेय हमारी नवीन कहानीके प्रति-निधि-लेखक हैं। श्री राहुल और भगवतशरणकी ऐतिहासिक कहानियाँ भी उल्लेखनीय हैं। इनमें उपदेशात्मक रूक्षताका दुर्गुण मौजूद है।

उपन्यास

साहित्यके दो भेद किये जा सकते हैं—एक काव्य दूसरा विज्ञान। काव्यमें कल्पनाका साम्राज्य है और विज्ञानमें तर्कका। काव्य कभी तर्कका सामना नहीं कर सकता। उपन्यास और नाटक काव्यके अंतर्गत हैं और इतिहास विज्ञानमें सम्मिलित किया जा सकता है। काव्यका कार्यक्रम अंतर्जगत् है और विज्ञानका उपादान बहिर्जगत् है। हम लोग प्रायः बहिर्जगतकी ओर ध्यान देते हैं। अधिकांश लोगोंके लिये प्रायः सत्यका रूप बाह्य जगत्में ही परिमित होता है। अंतर्जगतकी घटनाओंमें वे सहसा सत्यका स्वरूप नहीं देख सकते। पत्थरके लगनेसे फलका गिरना सत्य है। उसको सभी मान लेंगे। परंतु किसी अलक्षित कारण विशेषसे मनुष्यके अधःपतनमें सत्यका दर्शन कर लेना सभीके लिये साध्य नहीं है। वैज्ञानिकोंके आविष्कारोंकी सत्यतामें किसीको संदेह नहीं हो सकता। परंतु जब कवि अपनी कल्पनाद्वारा अंतर्जगत्का गूढ़ रहस्य समझाने लगता है, तब कुछ लोग संदिग्ध-चित्त हो सकते हैं। कितने ही लोग ऐसे हैं जो कल्पनाको सत्यका विरोधी समझते हैं।

यह तो सभीको स्वीकार करना पड़ेगा कि कल्पना निराधार नहीं हो सकती। उसका आश्रय सत्य ही होना चाहिये। जिसका अस्तित्व नहीं, उसकी कल्पना कैसे की जा सकती है? हम कल्पनाद्वारा देख सकते हैं कि मनुष्य आकाशमें उड़ता है।

सभी भाषाओंमें ऐतिहासिक नाटक और उपन्यास लिखे जाते है। ऐतिहासिक नाटकों और उपन्यासोंकी विशेषता यह है कि उनके पात्र ऐतिहासिक होते हैं, कल्पित नहीं। अब प्रश्न यह है कि ऐसे

ग्रथोंके लेखक अपने पात्रोंके चरित्र-चित्रणमें इतिहासका अनुसरण करते हैं या नहीं। क्या उन्हें अधिकार है कि वे किसी ऐतिहासिक व्यक्तिको किसी अन्यरूपमें प्रदर्शित कर सकें? कुछ समय पहले बंगालके प्रसिद्ध चित्रकारने 'लक्ष्मणसेनका पलायन' नामका एक चित्र बनाया था। कितने ही ऐतिहासिकोंका कहना था कि ऐसी घटना हुई ही नहीं, तब उसका चित्र क्यों बनाया गया? इससे मिथ्याको प्रश्रय मिलता है। बंकिम बाबूके कुछ उपन्यासोंमें इतिहासविरुद्ध बातें पाई जाती हैं। द्विजेंद्रलाल रायके नाटकोंमें महावत खाँ प्रतापसिंहके भाई माने गये हैं। हिन्दीमें एक बार इला नामका एक उपन्यास प्रकाशित हुआ था। वह एक बंगला-उपन्यासका अनुवाद था। इतिहासविरूद्ध होनेके कारण शायद उसपर कुछ विवाद भी हुआ था और कदाचित् उस पुस्तकका प्रचार भी रोक दिया गया था। बात यह थी कि वह अँगरेजीके प्रसिद्ध लेखक शेरीडनके एक नाटकका प्रायः अनुवाद था। बंगलाके अनुवादक महोदयने उसके पात्रोंके नाम बदलकर ऐतिहासिक व्यक्तियोंके नाम कर दिये। फल यह हुआ कि उसमें उदयपुरके महाराणा उदयसिंह आ गये और हेमूके साथ उनका घोर युद्ध हुआ। अब यह पूछा जा सकता है कि इन लेखकोंने इतिहास-विरूद्ध बातें लिखी क्यों?

उपन्यास-लेखकका पहला कर्तव्य यह है कि वह अपनी कथाको सजीव बनाए। कथाकी सजीवताका मतलब यही है कि पाठक अपनी कल्पनाद्वारा उन पात्रोंको प्रत्यक्ष देख ले। कथामें मानव-चरित्रका विकास प्रदर्शित किया जाता है और वही मुख्य भी है। परन्तु उसके प्रभावको बढ़ानेके लिये उपन्यासकार ऐसे व्यक्तियोंका नामोल्लेख कभी कभी कर देते हैं जिनसे पाठकका चित्त कथाकी ओर अधिक आकृष्ट हो जाता है।

इतिहास भी कथाके प्रभावको बढ़ानेके लिये उपयुक्त होता है। द्विजेन्द्र-लाल रायने महावत खाँको प्रतापसिंहका भाई बना दिया है। इससे उनके मेवाड़-पतनके कथा-भागका प्रभाव खूब बढ़ गया है। कथा सजीव हो गई है। हमें ऐसे स्थानोंमें स्मरण रखना चाहिए कि ऐतिहासिक होते हुए भी ये पात्र कविकी सृष्टि हैं। अतएव हमें कथा-भागपर ख्याल रखकर उनके चरित्रके विकासकी ओर ध्यान देना चाहिए। यदि कविको उसमें असफलता हुई है तो हम उसकी आलोचना कर सकते हैं। अँगरेजीके एक समालोचकने यह निर्णय किया है कि कवि, नाटककार अथवा चित्रकारको यह अधिकार है कि वे परिमितरूपमें इतिहासके विरुद्ध भी अपनी कथाकी सृष्टि कर सकते हैं परन्तु एकदम ऐसी झूठ बात भी न लिख देनी चाहिए जिससे कथाका प्रभाव ही नष्ट हो जाय।

रवीन्द्र बाबूने एक स्थानपर लिखा है कि विधिप्रणीत इतिहास और मनुष्यचरित कहानी, इन्हीं दोनोंके मेलसे मनुष्यका संसार बना है। मनुष्यके लिये सिर्फ अशोक और अकबर ही सत्य नहीं है। जो राजपुत्र मणि-माणिकके अनुसंधानमें सात समुद्रको पार कर चला गया था, वह भी सत्य है। हनुमानने गंधमादन पहाड़को उखाड़ लिया था, यह भी उसके लिए सत्य है। कौन अधिक प्रामाणिक है और कौन कम प्रामाणिक है, यह उनके लिए कसौटी नही है। कथाकी दृष्टिसे, मनुष्यत्वकी दृष्टिसे कौन सच्चा है, यही उनकी सत्यताकी यथार्थ कसौटी है।

इतिहासमें पात्र लेखककी सृष्टि नहीं हैं परंतु उपन्यासमें सभी पात्र लेखककी उपज हैं। इसका फल यह होता है कि इतिहासके एक ही पात्रको हम भिन्न भिन्न उपन्यासोंमें भिन्न भिन्न रूपोंमें देखते हैं। यह संभव है कि किसी उपन्यासमें कोई पात्र ऐतिहासिक व्यक्तिसे

बहुत कुछ मिलता जुलता हो, पर दोनों एक कभी नहीं हुए हैं। इसी लिए एक विद्वानने कहा है कि श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासोंसे भी इतिहासका काम नहीं लिया जा सकता। ऐतिहासिक घटनाओंका अनुकरण उनमें भले ही किया जाय, परंतु वे ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं। सच तो यह है कि उपन्यासोंमें बाह्य संसारकी घटनाएँ दृग्गोचर अवश्य होती हैं, परन्तु वे स्वयं महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। औपन्यासिक पात्रोंको अपने जीवनकी अभिव्यक्तिके लिये किसी देश और कालका आश्रय अवश्य लेना पड़ता है। परंतु ज्यों ही उनकी जीवन-लीला आरम्भ होती है त्यों ही हमारा ध्यान देश और कालसे हटकर उन पात्रोंपर केंद्रीभूत हो जाता है। लेखकका कला-नैपुण्य तभी ज्ञात होता है जब हम उसकी कृतिमें उन पात्रोंका जीवन देख लेते हैं। ऐतिहासिक वर्णनसे पूर्ण लंबे लंबे परिच्छेदोंसे जो बात नहीं व्यक्त हो सकती वह उन दो चार वाक्योंसे प्रकट हो जाती है जो औपन्यासिक पात्रोंके मुँहसे निकलते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि उपन्यासका उद्देश मनोरंजन है। परन्तु मनोविनोदके लिये अनाचारसे पूर्ण उपन्यासोंकी ही जरूरत है, यह कहना अनुचित है। कुछ लोग ऐसे अवश्य होते हैं जिन्हें ऐसी ही बातें पसंद आती हैं, जो समाजकी दृष्टिमें हेय हैं। पर अधिकांश लोगोंका ऐसी बातोंसे मनोविनोद होता है जो बिलकुल स्वच्छ रहती है। उपन्यासोंमें जो यथार्थ चित्रणके पक्षपाती हैं वे केवल समाजके अंधकारमय भागको ही प्रकाशित करना चाहते हैं। वे अपने ही आदर्शको सर्वोत्तम समझकर जगत्का धर्मगुरु बननेका दावा करते हैं। वे धर्मशास्त्रके आचार्य बनकर समाजका पथ निर्दिष्ट कर देना चाहते हैं।

आजकल भारतवर्षके अधिकांश औपन्यासिक अपने उपन्यासोंमें समाज-सुधारका उपाय बतलाते हैं। जो विधवा-विवाहके पक्षपाती हैं

वे अपने ग्रन्थमें विधवा-विवाहकी उपयुक्तता सिद्ध करते हैं। जो उसके विरोधी हैं वे उसका खण्डन कर पातिव्रतका माहात्म्य बतलाते हैं। पाश्चात्य शिक्षाके प्रेमी लकीरके फकीरोंकी दिल्लगी उड़ाते हैं और प्राचीनताके पक्षपाती नवीन सभ्यताकी बुराई प्रदर्शित करते हैं। स्त्री-शिक्षाके प्रेमी सास-ननदोंके अत्याचारोंका वर्णन करते हैं और प्राचीनताके अनुगामी सुशिक्षिता बहूका भ्रष्ट चित्र खींचते हैं। कहानियोंमें स्थानाभावसे समाज-सुधारकी इतनी चर्चा नहीं रहती, तो भी लेखक अपने आदर्शको इतना ऊँचा रखते हैं कि पाठकोंका ध्यान उधर अवश्य आकृष्ट हो। लेखक अपने आदर्शको दूसरोंपर क्यों लादना चाहते हैं? व पाठकोंको इतना अवकाश क्यों नहीं देते कि पाठक स्वयं उनके पात्रोंकी परीक्षा करें? कोई कहानियोंको धर्मशास्त्र समझकर तो पढ़ता नहीं। यदि किसीको 'कु' और 'सु' का निर्णय करना हो अथवा समाजशास्त्रकी बात जाननी हो तो वह कहानी क्यों पढ़ने बैठेगा, धर्म-शास्त्रका अध्ययन न करेगा? लेखक समाजकी दुर्बलतापर आघात अवश्य करे; पर उसे अपने पात्रोंके व्यक्तित्व-विकासपर जोर देना चाहिए। मतलब यह कि मनुष्योंके अनुसार समाजकी रचना होनी चाहिए। किसी कल्पित समाजके अनुसार मनुष्योंकी सृष्टि नहीं होनी चाहिए।

उपन्यासोंमें सत्यका प्रायः बहिष्कार किया जाता है। औपन्यासिक घटनाएँ कल्पित अवश्य होती हैं। परंतु ये प्राकृतिक नियमोंका व्यतिक्रमण नहीं कर जातीं। हिन्दीके सामाजिक उपन्यासोंमें मनुष्यके मनुष्यत्वका विकास प्रदर्शित नहीं किया जाता। उपन्यास-लेखक अपनी इच्छाके अनुकूल ही अपने पात्रोंको कठपुतलियोंके समान नचाया करते हैं और वे अपने पाठकोंसे यही आशा रखते हैं कि पाठक चुपचाप उनके पात्रोंका

नृत्य-कौशल देखा करें। इससे उपन्यासमें मिथ्याको प्रश्रय मिलता है। हिन्दीके उपन्यासोंके पात्र सह्य और असह्य सभी प्रकारके कष्ट सह सकते हैं। संसारमें सज्जनोंपर विधाताकी सदैव अनुकूल दृष्टि नहीं रहती। पर इन पात्रोंके भाग्य-विधाता उनकी स्थितिको अनुकूल ही कर देते हैं। यदि कोई उपन्यास दुःखान्त हुआ है तो उसका कारण स्थितिकी प्रतिकूलता नहीं किन्तु पात्रोंका दुर्भाग्य समझना चाहिए। स्वर्गीय बाबू देवकीनंदनके समान कितने ही लोग अपने एक ही उपन्यासको सुखान्त और दुःखान्त दोनों कर डालते हैं। आपका कहना भी था कि जो दुःखान्तके प्रेमी है वे ग्रंथके अंतिम दो पृष्ठ फाड़ डालें, सुखान्त दुःखांत हो जायगा। विधाताके विधानका फैसला दो ही पृष्ठोंपर कर दिया गया! हिन्दू मात्र पूर्व-जन्मपर विश्वास करते हैं। उनका ख्याल है कि विधाता निरंकुश नहीं है। मनुष्य अपने ही कृत्योंका फल भोगता है, पर हिन्दीके उपन्यासकार इसके कायल नहीं। एक ही कृत्यके लिए ये चाहें तो किसीको स्वर्ग दे सकते हैं या नरकमें ढकेल सकते हैं। मानव-स्वभावकी गरिमाका जरा भी ख्याल न रख किसीके चरित्रको कालुष्यपूर्ण बताकर उसपर पूरा अत्याचार किया जाता है। चरित्रका उत्थान और पतन बिलकुल साधारण बात है। यही हिन्दीके उपन्यासोंका मिथ्या अंश है।

सभी देशोंके साहित्यमें जातीय गौरवकी रक्षा की जाती है। सभी मनुष्योंको अपनी जातिका अभिमान होता है। यही कारण है कि अपने जाति-गौरवकी रक्षाके लिये, समय आनेपर साधारण मनुष्य भी आत्म-त्याग कर सकता है। कभी कभी लोग जातीय अभिमानसे प्रेरित होकर प्राणतक देना स्वीकार करते हैं। पर वे अपनी जातिको किसी प्रकार अपमानित होते नहीं देख सकते। अँगरेजीके एक कविने एक छोटी-

सी कहानी लिखी है। उसमें एक अँगरेजी सैनिकका जातीय अभिमान प्रदर्शित हुआ है। उस कहानीके विषयमें कहा गया है कि वह एक सच्ची घटनाके आधारपर लिखी गई है। कहानीका सारांश यह है कि एक बार चीनमें एक अँगरेज तीन सिक्खोंके साथ कहीं गुल-गपाड़ा करता हुआ पकड़ा गया। जब वे चारों किसी चीनी अफसरके सामने लाये गये तब उस अफसरने कहा—तुम लोग मुझे झुककर सलाम करो, नहीं तो मार डाले जाओगे। तीनों सिक्खोंने सलाम कर प्राण-रक्षा की, पर उस अँगरेजने यह स्वीकार नहीं किया। अन्तमें वह मार डाला गया। इसी घटनाको लेकर अँगरेज कविने अँगरेजोंके जातीय अभिमानकी प्रशंसा की है और काले सिक्खोंकी कायरताकी ओर इशारा किया है। सिक्ख-जातिके इतिहासमें ऐसी घटनाओंका अभाव नहीं है जिनमें सिक्खोंने सहर्ष प्राण त्याग दिये हैं। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि सिक्ख-जाति प्राण देना नहीं जानती। पर जिनका हृदय क्षुद्र होता है वे जातीय अभिमानके कारण दूसरोंमें गुण देख नहीं सकते। ऐसे लोगोंकी रचनाओंमें विदेशी जातियोंका घृणास्पद चित्र अंकित रहता है। साहित्यमें धार्मिक असहिष्णुताकी भी अभिव्यक्ति होती है। शेक्सपियरके समान श्रेष्ठ कवि भी इस दोषसे बचे नहीं हैं। शायलाकको उन्होंने इतना लोभी बनाया है कि वह अपनी एक मात्र कन्याका मृत शरीर देखना चाहता था जिससे वह अपना रुपया पा सके। सर वाल्टर-स्काटने अपने 'आइवन हो' नामक उपन्यासमें भी एक यहूदीका ऐसा ही चित्र अंकित किया है। यद्यपि उसमें धन-लिप्सा अत्यधिक थी, तो भी वह पितृ-स्नेह-शून्य नहीं था। अँगरेजी साहित्यमें भारतीयोंके प्रति घृणा-व्यंजक भाव विद्यमान हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्यमें भी विदेशियोंके प्रति घृणा प्रदर्शित की जाती है। यहाँ हम उसीकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

हिन्दीके उपन्यासोंमें अकबरकी चरित्रहीनताकी कथाएँ मिलती है। इसका सबसे बड़ा कारण टाड साहबका राजस्थानका इतिहास है। परन्तु सिर्फ अकबर ही चरित्र-हीन दर्शित नहीं किये गये हैं। औरंगजेब भी कामुक और विलासी बनाये गये हैं। जिस प्रकार क्रोधके लिए दुर्वासा ऋषि प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार अपनी क्रूरताके लिये औरंगज़ेब। ये तो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। कुछ समय पहले जो सामाजिक उपन्यास निकले हैं उनमें शायद ही कोई सच्चरित्र मुसल्मान हो। हिन्दू ललनाओंकी सतीत्व-रक्षाके लिये हिन्दी लेखक जितने सावधान थे उतने मुसलमान स्त्रियोंके विषयमें नहीं थे। आजकल जो छोटी–छोटी कहानियाँ प्रकाशित होती हैं उनमें अवश्य सच्चरित्र मुसलमानोंका अभाव नहीं है। परन्तु हिन्दीमें कदाचित् अभी तक एक भी ऐसा उपन्यास प्रकाशित नही हुआ जिसमें किसी अँगरेजका आदर्श चरित्र दिखलाया गया हो। यदि कभी किसी लेखककी इच्छा किसी अँगरेजी पढ़े लिखे भारतीयको चरित्र भ्रष्ट करनेकी हुई तो वह अँगरेजी महिलाकी कल्पना कर लेता है। धार्मिक विद्वेषके उदाहरण हिंदी साहित्यमें कम नहीं हैं। इसके सिवा अशिक्षा अथवा कुशिक्षाके परिणाम भी बुरी तरहसे दिखाये जाते हैं। ये सभी उपन्यास शिक्षादायक कहे जाते है और इनके प्रशंसकोंका भी अभाव नहीं है। इनमेंसे कोई अपनी प्रशंसामें देश और कालकी दुहाई देते हैं। परंतु सच पूछो तो इन रचनाओंसे लेखकोंकी विकारग्रस्त कल्पनाका ही आभास मिलता है। इनसे शिक्षा तो मिलती नहीं, मिथ्या ज्ञानका प्रचार होता है। इससे केवल द्वेषभावकी वृद्धि होती है। उपन्यास चाहे ऐतिहासिक हो अथवा सामाजिक, पौराणिक अथवा राजनीतिक, उसमें कल्पनाकी प्रधानता रहती है। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक व्यक्ति लेखककी कल्पनामें अपना यथार्थ स्वरूप नहीं रख सकते हैं। यदि उनके चरित्र-चित्रणमें वही दोष है तो वह लेखककी कल्पनाका

दोष है। यदि लेखकको अपने उत्तरदायित्वका पूरा ज्ञान है तो वह अपने उपन्यासके प्रत्येक पात्रके जीवनकी समीक्षा करेगा। उसे स्मरण रखना चाहिए कि उसके पात्र मनुष्य हैं। वे न तो देवता हैं और न पिशाच। यदि उनका चरित्र देव-तुल्य अथवा पिशाच-तुल्य है तो उसे बतलाना होगा कि वह किस स्थितिको अतिक्रमण कर उस अवस्थाको पहुँचा है।

आजकलके उपन्यासोंका क्षेत्र खूब व्यापक हो गया है। सभी तरहकी पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। उनमें कुछ अच्छी होती हैं, तो अधिकांश बुरी होती हैं। परन्तु बुरे होनेसे उपन्यासोंका प्रचार कम नहीं होता। पाठकोंका मनोविनोद श्रेष्ठ साहित्यसे नहीं होता। कभी कभी चरित्रको भ्रष्ट करनेवाली अनाचारसे पूर्ण किताबोंकी खूब खपत होती है। अँगरेजी साहित्यमें आजकल बर्नार्डशाका बड़ा नाम है। नाटक-रचनामें आप बड़े पटु समझे जाते हैं। आपने अच्छी और बुरी पुस्तकोंके सम्बन्धमें अपने विचार प्रकट किये हैं। आपके विचारोंमें मौलिकता है, अतएव उनका मर्म नीचे दिया जाता है।

हम लोग उपन्यासोंमें भयानक हत्याकाण्डोंका वर्णन पढ़ते हैं। उनमें हम भयानक हत्यारोंकी भीषण लीलाएं देखते हैं परन्तु उससे हम स्वयं घातक नहीं हो जाते। यही नहीं, किन्तु हमारी जिज्ञासाकी प्रवृत्ति एक कल्पित राज्यमें जाकर आपसे आप नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार हम काव्योंमें श्रेष्ठ नर-नारियोंका चरित्र पढ़ते हैं, उनके सद्गुणोंका परिचय पाते हैं। पर वे सद्गुण भी कल्पनाके ही क्षेत्रमें अवरुद्ध हो जाते हैं। हमारी सत्य वृत्तियाँ उत्तेजित तो अवश्य होती हैं, पर वे कल्पित राज्यमें ही विलीन हो जाती हैं। अब विचारणीय यह है कि वाचनालयोंमें कैसी किताबें रक्खी जायँ। हमारी समझमें तो वहाँ ऐसी ही किताबें रक्खी जायँ जिनमें दुराचारियोंका वर्णन रहे। जासूसी उपन्यासोंमें चोरों

और बदमाशोंका खूब हाल रहता है। अतएव पुस्तकालयोंमें उन्हींकी भरमार रहनी चाहिए। ऐसी किताबोंको पढ़ते पढ़ते जब पाठकोंको अनाचारसे विरक्ति हो जायगी तब वे स्वयं आकर कहेंगे—भाई, अब कोई ऐसी किताब दो जिसमें आदर्श चरित्र अंकित किया गया हो, किसी साधु पुरुष अथवा महात्माका जीवन-चरित्र दो। तब पुस्तकालयके अध्यक्षको उत्तर देना चाहिए—सद्गुणोंके निदर्शनके लिये संसार ही प्रधान कार्य-क्षेत्र है। आप स्वयं जाकर अच्छे अच्छे काम कीजिए। यदि कभी आपमें दुष्प्रवृत्तियाँ जागृत हों तो आकर किताबें पढ़िए। मैं आपको फिर ऐसी किताबें दूँगा जिनसे आपकी दुष्प्रवृत्ति खूब उत्तेजित होगी और अंतमें आपसे आप नष्ट हो जायगी।

हिन्दीमें साधारणतः जो उपन्यास प्रकाशित होते हैं उनमें विषयकी महत्तापर विशेष ध्यान दिया गया है। विषय महत्त्वपूर्ण होनेसे ग्रंथ भी महत्त्वपूर्ण हो, यह कोई बात नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इससे लेखकोंकी महत्त्वाकांक्षा सूचित होती है। हिन्दीके उपन्यासों, नाटकों और आख्यायिकाओं तकका विषय-क्षेत्र इतना विस्तृत होता है, कि उसमें एक बार निपुण ग्रंथकारोंकी बुद्धि भी चक्कर खा जाय। आदर्श ऊँचा रखना बुरा नहीं, परंतु उस आदर्शको मनुष्य-जीवनमें दिखलानेके लिये अनुभूति चाहिए। जिसने अभी भारतीय राजनीतिके साधारण तत्त्वों-को समझा नहीं हैं वह यदि कल्पनाके बलसे उपन्यासमें राजनीतिक जीवनका रहस्योद्घाटन करना चाहे तो इसे उसका साहस ही कहना चाहिए। यही हाल सामयिक तथा धार्मिक समस्याओंका भी है। किसी विधवाको आजन्म ब्रह्मचारिणी अंकित कर देनेसे भारतीय समाजकी दुर्दशा दूर नहीं हो जाती और न शिक्षित रमणीका विकृत चित्र खींच देनेसे स्त्रियोंकी समस्या हल हो जाती है। संसारमें कर्मयोगका जीवित

चित्र खींच देना साधारण काम नहीं है। बुद्धदेव अथवा प्रतापको नायक बना देनेसे ही नाटक या उपन्यास श्रेष्ठ नहीं हो जाता। एक साधारण मनुष्यके जीवनमें जो हलचल होती रहती है, पहले उसीका चित्र खींचा जाय, फिर किसी उच्च जीवनका विकास दिखलाया जाय। जो लोग बुद्धदेवके जीवनका रहस्य बतलाना चाहते हैं वे पहले अपने जीवनकी परीक्षा कर लें। जब तक वे अपने जीवनमें बुद्धदेवकी महत्ताका अनुभव नहीं कर लेंगे तब तक वे केवल कल्पनाके सहारे बुद्धदेवके पास नहीं पहुँच सकते। रामचरितमानस लिखनेके लिये गोस्वामीजीकी जरूरत होती है। रामचरितमानस गोस्वामीजीकी कल्पनाका फल नहीं है, वह उनकी साधनाका, अनुभूतिका फल है। हिन्दीके नये ग्रंथोंमें दो चारको छोड़कर सभीमें इसी अनुभूतिका अभाव है। कुछ लोग असाधारणताको ही उत्तमता समझते हैं। इसीके फेरमें पड़कर लोग मनुष्यको न देखकर उसका स्वांग देख रहे हैं।

उपन्यासमें भी भावुकता और राष्ट्रीयताकी ऐसी लहर आई है कि जिसे देखो वही अपने दिलके फफोले फोड़ रहा है। सीधी, सच्ची बातको लोग उपन्यासका विषय नहीं समझते, मानो विकार-ग्रस्त मनुष्यके प्रलापमें ही कलाका चमत्कार है।

साहित्यका उद्देश्य ज्ञानका प्रचार करना है, कमसे कम सत्-साहित्यका तो यही उद्देश्य है। साहित्यसे मनुष्यका जो मनोरंजन होता है उसका कारण है उसकी स्वाभाविक ज्ञान-लिप्सा। यदि उसमें ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छा बलवती न होती तो साहित्यके किसी अंगसे उसकी मनस्तुष्टि न होती। मनुष्य मनुष्य-समाजको जानना चाहता है। इसीसे इतिहास, नृतत्त्व-शास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिविज्ञान आदि शास्त्रोंकी सृष्टि होती है। वह मनुष्यके अंतस्तलमें प्रवेश करके उसके अंतर्निहित भावोंको जानना चाहता

है, इसीसे काव्यका निर्माण होता है। वह प्रकृतिके रहस्योंका उद्घाटन चाहता है, इसीसे विज्ञानकी रचना होती है। जब वह बाह्य प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध ढूँढ़ने लगता है, तब समाजशास्त्रकी आवश्यकता होती है। मतलब यह कि समस्त साहित्यके मूलमें ज्ञान है। साहित्यके जिस अंशसे हम ज्ञानका जितना ही अधिक अंश स्वायत्त कर लेते हैं वह हमारे लिये उतना ही अधिक उपादेय होता है। ज्ञानकी प्राप्तिमें ही साहित्यकी उपादेयता है।

कथा, उपन्यास और आख्यायिका, ये काव्यके अंतर्गत हैं। कुछ लोगोंकी धारणा है कि इनका उद्देश केवल मनोरंजन है। इसमें संदेह नहीं कि उपन्यासोंसे जितना अधिक मनोरंजन होता है उतना अन्य किसी शास्त्रसे नहीं होता। परन्तु इससे इनका महत्त्व घटता नहीं है। उपन्यास अथवा कथाओंमें मनुष्यका मनोरंजन इसलिये होता है कि उनसे वह अपना मनुष्यत्व पहचान लेता है। इतिहास राष्ट्रसे हमें परिचित करता है और उपन्यास व्यक्तिसे। यही दोनोंमें भेद है। राष्ट्र अथवा समाजका ज्ञान हमारे लिये जितना हितकर है, उससे कम व्यक्तिका ज्ञान नहीं है। एकमें हम राष्ट्रका उत्थान-पतन देखते हैं और दूसरेमें व्यक्तिका। जिस कथासे हमें मनुष्यत्वका जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही अच्छा समझा जाता है।

अब विचारणीय यह है कि साहित्यमें उपन्यासोंकी क्या मर्यादा है। यह तो स्पष्ट है कि उसका उद्देश्य ही मानवीय स्वभावकी ज्ञान-प्राप्ति है। परंतु क्या यह कहा जा सकता है कि ज्ञानकी सीमा यहीं तक हैं, इससे अधिक हम नहीं जा सकते? उदाहरणके लिये, क्या कथाओंके विषयमें यह कहा जा सकता है कि उनमें हमें श्रेष्ठ पुरुषोंके ही जीवनकी महत्ता देखनी चाहिए। क्षुद्रोंकी क्षुद्रता देखनेसे लाभ क्या? प्राचीन-कालकी

कथाओंमें राजा और रानीकी ही कहानियाँ वर्णित हुई है। रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि सभी काव्योंके नायक महापुरुष हैं। चरित्रहीन, नीच और दुष्टजनोंको अपनी कृतिद्वारा अक्षय करनेकी चेष्टा किसीने नहीं की है। तो क्या ऐसे मनुष्योंका जीवन अवर्णनीय है? निवेदन है कि आँख मूँद लेनेसे हमारे लिये कहीं कोई नहीं रह जाता। परंतु संसार उठ नहीं जाता। वह जहाँका तहाँ बना रहता है। इसलिये जो आँख मूँदकर चलनेकी चेष्टा करते हैं वे ठोकर भी खाते हैं। अतएव नीतिकी दृष्टिसे तो यह आवश्यक है कि मनुष्य भलाई और बुराई दोनोंसे परिचित हो जाय। परन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि हमें मनुष्य स्वभावका पूरा ज्ञान होना चाहिए। एक चरित्रहीनके जीवनमें मनुष्यत्वका जो विकास हुआ है वह हमारे लिये उपेक्षणीय नहीं है। ऐसे ग्रन्थोंके पाठसे चित्त कलुषित नही होता। यथार्थ ज्ञानसे सहानुभूति उत्पन्न होती है। जिन लेखकोंमें यह शक्ति नहीं है कि वे मनुष्यके अन्तस्तल तक पहुँच सकें उन्हींकी रचनाओंमें मनुष्यत्वका विकृत रूप प्रदर्शित होता है जिससे चित्तविकृति होती है। मनुष्यके लिये अधःपतन अस्वाभाविक नहीं है। परंतु इस पतनावस्थामें जो प्रवृतियाँ काम करती हैं उन्हींमें यह शक्ति भी रहती है कि वे मनुष्यको उच्चतम अवस्थामें ले आवें। अतएव उनका ज्ञान हमारे लिये अनिष्टकर नहीं है।

काव्यकी उपेक्षिता

कविने अपने कल्पना-निर्झरका सारा करुण-जल केवल जनक-नन्दिनीके पुण्याभिषेकमें ही समाप्त कर दिया। किन्तु वहीं एक ओर म्लानमुखी तथा संसारके सारे सुखोंसे वञ्चित जो राजवधू सीताके पास घूँघट डाले खड़ी हुई है, उसके चिरसंतप्त नम्र ललाटपर न जाने कविके कमण्डलुसे एक बूँद भी अभिषेकका जल क्यों नहीं पड़ा! हाय, अव्यक्त-वेदना देवी उर्मिला, एक बार तुम्हारा उदय प्रातःकालीन ताराकी भाँति महाकाव्यके सुमेरु शिखरपर हुआ था। उसके बाद अरुणालोकमें तुम्हारे दर्शन नहीं हुए। कहाँ तुम्हारा उदयाचल है और कहाँ अस्ताचल है, यह प्रश्न करना भी सब लोग भूल गये।

काव्य-संसारमें ऐसी एक दो स्त्रियाँ हैं जिनकी कवियोंने अत्यन्त उपेक्षा की है; परन्तु तब भी वे अमरत्वके पदसे भ्रष्ट नहीं हुईं। हृदयोंमें वे अब भी अमर बनी हुई हैं। पक्षपात-कृपण काव्योंने उनके लिये स्थान-दानमें सङ्कोच किया, इसीसे पाठकोंके हृदय अग्रसर होकर उन्हें आसन बिछा देते हैं।

किन्तु इन कविपरित्यक्ता ललनाओंमेंसे कौन किसको अपने हृदयमें आसन देगा, यह पाठकोंकी भिन्न प्रकृति और अभिरुचिपर निर्भर है। हम कह सकते हैं कि संस्कृत-साहित्यमें काव्य-यज्ञ-शालाकी प्रान्तभूमिमें जो कितनी ही स्त्रियाँ अनादृत होकर खड़ी हैं, उनमें प्रधान स्थान उर्म्मिलाका है।

इसका एक प्रधान कारण यह हो सकता है कि संस्कृत काव्योंमें ऐसा मधुर नाम कोई दूसरा नहीं है। नामको जो लोग केवल नाम-मात्र

ही मानते हैं, उनके दलमें मैं शामिल नहीं हूँ। शेक्सपियरने कहा है कि गुलाबका भले ही और कोई दूसरा नाम रक्खा जाय, पर उसके माधुर्य्यमें न्यूनाधिक्य नहीं हो सकता। संभवतः गुलाबके सम्बन्धमें, यह बात घटित हो सके; क्योंकि गुलाबका माधुर्य्य संकीर्ण और सीमाबद्ध है। वह केवल कुछ स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष गुणोंके ऊपर ही निर्भर है। किन्तु मनुष्यका माधुर्य सर्वांशमें इतना प्रत्यक्ष नहीं है। मनुष्यके माधुर्य्यमें ऐसे अनेक सूक्ष्म सुकुमार भाव हैं, जो अनिर्वचनीयताका उद्रेक करते हैं। यह माधुर्य इन्द्रियोंद्वारा गोचर नहीं है; कल्पनाद्वारा उसकी सृष्टि होती है। इस सृष्टि-कार्यमें नाम सहायता करते हैं। ख्याल कीजिए कि यदि द्रौपदीका नाम ऊर्मिला रख दिया जाता, तो उस पञ्चवीर-पति-गर्विता क्षत्रिय नारीका दीप्त-तेज इस तरुण कोमल नामसे पद पदपर खण्डित होता रहता।

अतएव इस नामके लिये हम वाल्मीकिके कृतज्ञ हैं। कविगुरु वाल्मीकिने ऊर्मिलाके प्रति अनेक अविचारके काम किये हैं, किन्तु भाग्यसे ही इसका नाम माण्डवी अथवा श्रुतकीर्ति नहीं रखा। माण्डवी और श्रुतकीर्तिके सम्बन्धमें हम कुछ नहीं जानते और न हमें जाननेका कुतूहल ही होता है।

हमने जनकपुरकी विवाह-सभामें केवल वधूवेशमें ऊर्म्मिलाको देखा है। उसके बाद जबसे वह रघुकुलके विशाल अन्तपुरमें पैठी, तबसे एक बार भी उसके दर्शन नहीं हुए। वही विवाह-मंडपवाली वधूवेशकी मूर्ति ही हमारे हृदयमें अङ्कित रह गई। निर्वाक्, कुण्ठिता और निःशब्द-चारिणी होकर वह सदा वधूकी वधू ही रह गई। भवभूतिके काव्यमें भी उसकी वही मूर्ति कुछ कालके लिये झलक गई है। सीताने कौतुकपूर्ण स्नेहके साथ केवल एक बार ऊर्म्मिलाकी ओर उँगली दिखाकर अपने

देवर लक्ष्मणसे पूछा कि "वत्स, ये कौन हैं?" लक्ष्मणने लज्जापूर्ण मन्द-मुसकानके साथ मन ही मन कहा कि अहा, सीता ऊर्मिलाके बारेमें पूछ रही हैं। बस वे तत्क्षण संकुचित हो गये। इसके बाद रामचन्द्रकी इतनी विचित्र सुख-दुःखकी चित्रावलीमें फिर कभी किसीकी कुतूहलकी उँगली इस मूर्तिके ऊपर नहीं पड़ी। क्योंकि वह तो थी केवल वधू उर्म्मिला मात्र।

जिस दिन ऊर्म्मिलाने अपने उज्ज्वल ललाटमें सिन्दूर-बिन्दु धारण किया था, उसी दिनकी नववधू वह सदा बनी रही। किन्तु जिस दिन रामराज्याभिषेकके मङ्गल साधनोंका आयोजन करनेमें अन्तःपुरवासिनी ललनाएँ लगी हुई थीं, यह नववधू उस दिन क्या अपना घूँघट ऊपर उठाकर रघुकुल-लक्ष्मियोंके प्रसन्नमुखसे मङ्गल-रचनामें अस्तव्यस्त नहीं थी? और जिस दिन अयोध्यामें अँधेरा करके तपस्वियोंका-सा वेश बनाये दोनों राजकिशोर सीताको साथ लेकर वनवासके लिये बाहर हुए उस दिन वधू ऊर्मिला राजप्रासादके किस एकान्त कक्षमें वृन्तच्युत कुसुम-कलिकाकी भाँति धूलमें लोट रही थी, यह क्या कोई जानता है? उस दिनके उस विश्वव्यापी विलापके भीतर इस विदायमान, नन्हे तथा कोमल हृदयके असह्य शोकको किसने देखा था? जो ऋषि-कवि क्रौञ्च-विरहिणीके वैधव्य-दुःखको क्षणभर भी नहीं सह सके, उन्होंने भी उसकी ओर एक बार आँख नही उठाई।

लक्ष्मणने अपना अस्तित्व रामके लिये एकदम खो दिया था, यह गौरव-कथा भारतमें आज भी घर-घर कही जाती है। किन्तु सीताके लिये ऊर्मिलाका अपना अस्तित्व खोना, केवल संसारमें ही नहीं, काव्यमें भी मौन रूपसे घोषित हो रहा है। लक्ष्मणने अपने दोनों देवता सीता-रामके लिये केवल अपनेको ही उत्सर्ग किया; और ऊर्म्मिलाने अपनी अपेक्षा भी अधिक अपने स्वामीको समर्पण किया। काव्यमें यह कथा लिखी नहीं गई। सीताके आँसुओंके जलसे ऊर्म्मिला एकदम पुँछ गई।

लक्ष्मणने तो बारह वर्ष अपने उपास्य प्रियजनोंके प्रिय कार्य करनेमें बिताये; पर नारी-जीवनके ये श्रेष्ठ बारहों वर्ष ऊर्मिलाने कैसे बिताये? सलज्ज, नवप्रेमामोदित और विकासोन्मुख हृदय-मुकुल लेकर स्वामीके साथ जब उसका प्रथमतम तथा मधुरतम परिचय आरम्भ हुआ, तभी सीतादेवीके अरुण-चरण-विक्षेपकी ओर नम्र दृष्टिसे देखते हुए, लक्ष्मण वन चले गये। जब वे लौटे तब क्या वधूके चिरन्तन प्रणयालोक-विरहित हृदयमें वह पहली नूतनता थी? पीछेसे सीताके दुःखके साथ ऊर्म्मिलाके दुःखकी कोई तुलना न करने लगे, क्या इसीसे कविने इस शोकोज्ज्वला महादुःखिनीको सीताके स्वर्णमन्दिरसे बाहर कर दिया—जानकीके पादपीठके पास भी उसे स्थान देनेका साहस न किया?

संस्कृत-काव्योंमें दो तपस्विनियाँ और हैं जो हमारे हृदयको तपोवन बनाकर उसमें वास करती हैं। वे हैं प्रियंवदा और अनुसूया। पतिगृह-गामिनी शकुन्तलाको बिदा करके वे रोती रोती लौट आईं। नाटकमें फिर उनका प्रवेश नहीं देखा गया। उन्होंने फिर हमारे हृदयोंमें ही आसन जमा लिया।

हम यह जानते हैं कि काव्यमें सबको समान अधिकार नहीं मिलता। कठिन-हृदय कवि नायक-नायिकाके लिये अनेक अक्षय प्रतिमाएँ गढ़ते हैं और निर्मम हृदयसे उनका विसर्जन कर देते हैं। किन्तु जहाँ वे काव्यका प्रयोजन समाप्त समझकर उसे समाप्त कर देते हैं, क्या वहीं उसका यथार्थतः अंत हो जाता है? दोनों क्रोधोद्दीप्त शिष्य तथा हतबुद्धि रोरुद्यमान गौतमीने जब तपोवनमें दोनों उत्सुक तथा उत्कण्ठित सखियोंसे राजसभाका वृत्तान्त कहा, तब उनकी क्या दशा हुई—यह बात शकुंतला नाटकका विषय नहीं है। किन्तु क्या वह हमारे हृदयमें बिना छन्द और बिना भाषाके सदा जागरित नहीं रहती?

काव्य हीरेके टुकड़ेकी भाँति कठिन है। जब हम यह सोचते हैं कि प्रियंवदा और अनुसूया शकुन्तलाको कितनी प्यारी थीं, तब उस कण्व कन्याके कठिन दुःखके समय उन सखियोंको अनावश्यक समझ एकदम छोड़ देना काव्यके लिये न्यायोचित तथा संगत हो सकता है, पर यह अत्यन्त निष्ठुरता है।

शकुन्तलाका सुख-सौंदर्य तथा गौरव-गरिमा बढ़ानेके लिये ही ये दोनों सौंदर्यकी पुतलियाँ उसे घेरे रहती थीं। तीनों सखियाँ जिस समय घड़े लेकर अकाल-कुसुमित नवमालतीके पास आकर खड़ी हुई थीं, उस समय क्या दुष्यन्तने अकेली शकुन्तलाको ही प्यारकी दृष्टिसे देखा था? उस समय हँसीसे, कौतुकसे, नवयौवनके चंचल-माधुर्य्यसे शकुन्तलाको किसने 'सम्पूर्ण' कर रक्खा था? इन्हीं दोनों सखियोंने तो। अकेली शकुन्तला शकुन्तलाका तृतीयांश है। शकुन्तलाका अधिकांश अनुसूया और प्रियंवदा ही है। स्वयं शकुन्तला सर्वापेक्षा कम है। बारह आना प्रेमालाप उन्होंने मिलकर ही सुचारु-रूपसे सम्पन्न किया था। तृतीय अंकमें जहाँ एकाकिनी शकुन्तलाके साथ दुष्यन्तकी प्रेमाकुलताका वर्णन है, वहाँ कविकी प्रतिभा संकुचित-सी हो गई है। उन्होंने गौतमीका प्रवेश कराकर अपनी मर्यादा बचाई है; क्योंकि शकुन्तलाको जिन्होंने परिपूर्ण कर रक्खा था, वे वहाँ नहीं थीं। दिनका सारा प्रखर आलोक वृन्त-च्युत कुसुम सहन नहीं कर सकता, वृन्तके बन्धन और पल्लवोंके थोड़े ही अन्तरालके बिना वह आलोक कुसुमके ऊपर कमनीय कोमल भावसे नहीं पड़ता। नाटकके इने गिने पात्रोंमें सखी-विरहिता शकुन्तला ऐसी स्पष्टतः असहाय, असम्पूर्ण और अनावृत्त भावसे दिखलाई पड़ती है कि उसे अच्छी तरह देखनेमें भी संकोच होता है। बीचमें गौतमीके आजानेसे पाठकोंको मन ही मन तसल्ली हो जाती है।

मैं तो समझता हूँ कि राज-सभामें दुष्यन्तके शकुन्तलाको न पहचाननेका कारण उसके साथ दोनों सखियोंका न होना ही है। एक तो तपोवनके बाहर, दूसरे अपूर्ण—सखियोंसे रहित, इस अवस्थामें शकुन्तलाको पहचानना अवश्य ही कठिन हो सकता है।

शकुन्तला बिदा हो गई, इसके बाद जब सखियाँ शून्य तपोवनमें लौट आईं, तब क्या उन्हें अपनी शैशव-सहचरीके विरहका ही एक मात्र दुःख था? इस बीचमें शकुन्तलाके अभावको छोड़कर तपोवनमें क्या और कोई परिवर्तन नहीं हुआ था? हाय, उन सखियोंने ज्ञानतरुका फल खा लिया है; जो बातें उन्हें अज्ञात थीं वे ज्ञात हो गई हैं। काव्यकी काल्पनिक नायिकाका विवरण पढ़कर नहीं किन्तु अपनी प्रियतमा सखीके विदीर्ण हृदयमें प्रवेश करके उन्होंने यह ज्ञान प्राप्त किया है। अब अपराह्नमें जब वे पेड़ोंके थालोंमें जल डालने लगेंगी, तब क्या अपनेको भूल जायँगी? अब क्या वे बीच बीचमें पत्तोंकी खड़खड़ाहटसे चकित होकर अशोक वृक्षके अन्तरालमें किसी छिपे आगन्तुककी आशंका नहीं करेंगी? मृगशिशु क्या उनसे वैसा ही परिपूर्ण आदर पावेंगे?

उस मर्मर-रव-पूर्ण तपोवनमें सखी-भाव-निर्मुक्ता स्वतन्त्रा अनुसूया और प्रियंवदाको अब हम उनकी जीवन-कथाका सूत्र लेकर ढूँढ़ते हुए फिर रहे हैं। वे छाया तो हैं नहीं, शकुंतलाके साथ एक दिगंतसे दूसरे दिगन्त तक जाकर अस्त तो वे हो ही नहीं गईं। वे जीती और मूर्तिमती हैं। निर्मित काव्यके बाहर, अभिनीत नाट्यके नेपथ्यमें, इस समय उनकी उम्र बढ़ गई है। अतिपिनद्ध वल्कल भी अब उनके यौवनको बाँधकर नहीं रख सकता। इस समय नववर्षाकी प्रथम मेघमालाकी भाँति अन्तरके घनीभूत भावोंके आवेगने उनके कल-हास्यके ऊपर अश्रुगम्भीर छाया फैला रखी है। इस समय अतिथिगण आ आकर उन अन्यमनस्का सखियोंके उटज-प्राङ्गणसे लौट जाते हैं। हम भी वैसे ही लौट आये।

हिन्दी कविताकी नई धारा

भक्ति-काल और रीति-कालकी चली आती हुई परम्पराके अन्तमें भारतेंदु-मंडलके प्रभावसे देश-प्रेम और जाति-गौरवकी भावनाको लेकर एक नूतन परम्पराकी प्रतिष्ठा हुई। संवत् १९५० से १९७५ तक काव्यकी नूतन परम्पराका अनेक विषयस्पर्शी प्रसार अवश्य हुआ पर द्विवेदीजीके प्रभावसे एक ओर उसमें भाषाकी सफाई आई, दूसरी ओर उसका स्वरूप गद्यवत् रूखा, इतिवृत्तात्मक और अधिकतर बाह्यार्थनिरूपक हो गया। अतः संवत् १९७५ से हिन्दी कवितामें जो प्रतिवर्तन हुआ और पीछे 'छायावाद' कहलाया वह पूर्ववर्ती अर्थात् संवत् १९५० से १९७५ तककी कविताके विरुद्ध कहा जा सकता है। उसका प्रधान लक्ष्य काव्य-शैलीकी ओर था, वस्तुविधानकी ओर नहीं। अर्थ-भूमि या वस्तु-भूमिका तो उसके भीतर बहुत संकोच हो गया। समन्वित विशाल भावनाओंको लेकर चलनेकी ओर ध्यान न रहा।

संवत् १९५० से १९७५ तककी कवितामें काव्यका स्वरूप खड़ा करनेवाली दोनों बातोंकी कमी दिखाई पड़ती थी—कल्पनाका रंग भी बहुत कम या फीका रहता था और हृदयका वेग भी खूब खुलकर नहीं व्यंजित होता था। इन बातोंकी कमी परम्परागत व्रजभाषा-काव्यका आनंद लेनेवालोंको भी मालूम होती थी और बंगला या अँगरेजीकी कविताका परिचय रखनेवालोंको भी। अतः खड़ी बोलीकी कवितामें पदलालित्य, कल्पनाकी उड़ान, भावकी वेगवती व्यंजना, वेदनाकी निवृत्ति, शब्द-प्रयोगकी विचित्रता इत्यादि अनेक बातें देखनेकी आकांक्षा बढ़ती गई।

सुधार चाहनेवालोंमें कुछ लोग नए विषयोंकी ओर प्रवृत्त खड़ी बोलीकी कविताको व्रजभाषा-काव्यकी-सी ललितपदावली तथा रसात्मकता और मार्मिकतासे समन्वित देखना चाहते थे। जो अँगरेजीकी या अँगरेजीके ढंगपर चली हुई बंगलाकी कविताओंसे प्रभावित थे, वे कुछ लाक्षणिक वैचित्र्य, व्यंजक चित्र-विन्यास और रुचिर अन्योक्तियाँ देखना चाहते थे। श्री पारसनाथसिंहके किए हुए बंगला कविताओंके हिन्दी-अनुवाद 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओंमें संवत् १९६७ से ही निकलने लगे थे। ग्रे, वर्ड्सवर्थ आदि अँगरेजी कवियोंकी रचनाओंके कुछ अनुवाद भी, (जैसे जीतनसिंहद्वारा अनुदित वर्ड्सवर्थका 'कोकिल') निकले। अतः खड़ी बोलीकी कविता जिस रूपमें चल रही थी उससे संतुष्ट न रहकर संवत् १९७५ के आसपास कई कवि खड़ी बोलीके काव्यको कल्पनाका नया रूप-रंग देने और उसे अधिक अंतर्भाव-व्यंजक बनानेमें प्रवृत्त हुए, जिनमें प्रधान थे सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय और बदरीनाथ भट्ट। कुछ अँगरेजी ढँग लिए हुए जिस प्रकारकी फुटकर कविताएँ और और प्रगीत मुक्तक (Lyries) बंगलामें निकल रहे थे उनके प्रभावसे कुछ विशृंखल वस्तु-विन्यास और अनूठे शीर्षकोंके साथ चित्रमयी, कोमल और व्यंजक भाषामें इनकी नए ढंगकी रचनाएँ संवत् १९७०-७१ से ही निकलने लगी थीं जिनमेंसे कुछके भीतर रहस्य-भावना भी रहती। गुप्तजीकी 'नक्षत्र-निपात' (सन् १९१४), अनुरोध (सन् १९१५), पुष्पांजलि (१९१७), स्वयं आगत (१९१८) इत्यादि कविताएँ ध्यान देने योग्य हैं। 'पुष्पांजलि' और 'स्वयं आगत' की कुछ पंक्तियाँ आगे देखिए—

(क) मेरे आंगनका एक फूल।

सौभाग्य भावसे मिला हुआ

श्वासोच्छ्वासोंसे हिला हुआ,
संसार-विटपमें खिला हुआ,
झड़ पड़ा अचानक झूल झूल।

(ख) तेरे घरके द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं ?
सब द्वारोंपर भीड़ बड़ी है, कैसे भीतर जाऊँ मैं।

इसी प्रकार गुप्तजीकी और भी बहुत-सी गीतात्मक रचनाएँ हैं, जैसे,

(ग) निकल रही है उरसे आह,
ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी।
मैं अपना घट लिये खड़ा हूँ, अपनी अपनी हमें पड़ी।

(घ) प्यारे ! तेरे कहनेसे जो यहाँ अचानक मैं आया
दीप्ति बढ़ी दीपोंकी सहसा, मैंने भी ली साँस कहा।
सो जानेके लिए जगत्‌का, यह प्रकाश मैं जाग रहा।
किन्तु उसी बुझते प्रकाशमें डूब उठा मैं और बहा।
निरुद्देश नख-रेखाओंमें देखी तेरी मूर्ति अहा !

गुप्तजी तो, जैसा पहले कहा जा चुका है, किसी विशेष पद्धति या 'वाद' में न बँधकर कई पद्धतियोंपर अब तक चले आ रहे हैं। पर मुकुटधरजी बराबर नूतन पद्धतिपर ही चले। उनकी इस ढंगकी प्रारंभिक रचनाओंमें 'आँसू' 'उद्‌गार' इत्यादि ध्यान देने योग्य हैं। कुछ नमूने देखिए—

(क) हुआ प्रकाश तमोमय मगमें,
मिला मुझे तू तत्क्षण जगमें,
दंपतिके मधुमय विलासमें,
शिशुके स्वप्नोत्पन्न हासमें,
वन्य कुसुमके शुचि सुवासमें
था तव क्रीडा-स्थान। (सन् १९१७)

(ख) **मेरे जीवनकी लघु तरणी,**
आँखोंके पानीमें तर जा।
मेरे उरका छिपा खजाना,
अहंकारका भाव पुराना,
बना आज तू मुझे दिवाना,
तप्त श्वेत बूंदोंमें ढर जा।

(सन् १९१७)

(ग) **जब सन्ध्याको हट जावेगी भीड़ महान्**
तब जाकर मैं तुम्हें सुनाऊँगा निज गान।
शून्य कक्षके अथवा कोनेमें ही एक
बैठ तुम्हारा करूँ वहाँ नीरव अभिषेक। (सन् १९२०)

पं० बदरीनाथ भट्ट भी सन् १९१३ के पहलेसे ही भावव्यंजक और अनूठे गीत रचते आ रहे थे। दो पंक्तियाँ देखिए।—

दे रहा दीपक जलकर फूल,
रोपी उज्ज्वल प्रभा-पताका अन्धकार हिय हूल।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शीके भी इस ढंगके कुछ गीत सन् १९१५-१६ के आस-पास मिलेंगे।

ये कवि जगत् और जीवनके विस्तृत क्षेत्रके बीच नई कविताका संचार चाहते थे। ये प्रकृतिके साधारण, असाधारण सब रूपोंपर प्रेम-दृष्टि डाल-कर, उसके रहस्य-भरे सच्चे संकेतोंको परखकर, भाषाको अधिक चित्रमय सजीव और मार्मिक रूप देकर, कविताका एक अकृत्रिम, स्वच्छंद मार्ग निकाल रहे थे। अतः हिन्दी-कविताकी नई धाराका प्रवर्तक इन्हींको—विशेषतः श्री मैथिलीशरणगुप्त और मुकुटधर पांडेयको—समझना चाहिए। इस दृष्टिसे छायावादका रूप-रंग खड़ा करनेवाले कवियोंके संबंधमें अँगरेजी या बंगलाकी समीक्षाओंसे उठाई हुई इस प्रकारकी पदावलीका कोई अर्थ नहीं कि "इन कवियोंके मनमें एक आँधी उठ रही थी जिसमें

आंदोलित होते हुए वे उड़े जा रहे थे; एक नूतन वेदनाकी छटपटाहट थी जिसमें सुखकी मीठी अनुभूति भी लुकी हुई थी; रूढ़ियोंके भारसे दबी हुई युगकी आत्मा अपनी अभिव्यक्तिके लिये हाथ-पैर मार रही थी।" न कोई आँधी थी, न तूफ़ान; न कोई नई कसक थी न वेदना; न प्राप्त युगकी नाना परिस्थितियोंका हृदयपर कोई नया आघात था, न उसका आहत नाद। इन बातोंका कुछ अर्थ तब हो सकता था जब काव्यका प्रवाह ऐसी भूमियोंकी ओर मुड़ता जिनपर ध्यान न दिया गया रहा होता। छायावादके पहले नए-नए मार्मिक विषयोंकी ओर हिन्दी-कविता प्रवृत्त होती आ रही थी। कसर थी तो आवश्यक और व्यंजक शैलीकी, कल्पना और संवेदनाके अधिक योगकी। तात्पर्य यह कि छायावाद जिस आकांक्षाका परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यंजनाकी रोचक प्रणालीका विकास था जो धीरे-धीरे अपने स्वतंत्र ढर्रेपर श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय आदिके द्वारा हो रहा था।

गुप्तजी और मुकुटधर पांडेय आदिके द्वारा यह स्वच्छंद नूतन धारा चली ही थी कि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी उन कविताओंकी धूम हुई जो अधिकतर पाश्चात्य ढाँचेका आध्यात्मिक रहस्यवाद लेकर चली थीं। पुराने ईसाई संतोंके छायाभास (Phantasmata) तथा यूरोपीय काव्य-क्षेत्रमें प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण-पर रची जानेके कारण बंगालमें ऐसी कविताएँ 'छायावाद' कही जाने लगी थीं। यह वाद, क्या प्रकट हुआ, एक बने-बनाए रास्तेका दरवाजा-सा खुल पड़ा और हिंदीके नए कवि उधर एकबारगी झुक पड़े। यह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था। इसका दूसरे साहित्य-क्षेत्रमें प्रकट होना, कई कवियोंका इसपर एक साथ चल पड़ना और कुछ दिनों तक इसके भीतर अँगरेजी और बंगलाकी पदावलीका जगह जगह ज्योंका

त्यों अनुवाद रखा जाना, ये बातें मार्गकी स्वतंत्र उद्भावना नहीं सूचित करतीं।

'छायावाद' नाम चल पड़नेका परिणाम यह हुआ कि बहुत-से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजनाके लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यासकी विशृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पनाको ही साध्य मानकर चले। शैलीकी इन विशेषताओंकी दूरारूढ साधनामें ही लीन हो जानेके कारण अर्थ-भूमिके विस्तारकी ओर उनकी दृष्टि न रही। विभाव-पक्ष या तो शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रसरणोन्मुख काव्य-क्षेत्र बहुत कुछ संकुचित हो गया। असीम और अज्ञात प्रियतमके प्रति अत्यंत चित्रमयी भाषामें अनेक प्रकारके प्रेमोद्गारों तक ही काव्यकी गति-विधि प्रायः बँध गई। हृतंत्रीकी झंकार, नीरव संदेश, अभिसार, अनंत-प्रतीक्षा, प्रियतमका दबे पाँव आना, आँखमिचौनी, मदमें झूमना, विभोर होना इत्यादिके साथ साथ शराब, प्याला, साकी आदि सूफी कवियोंके पुराने सामान भी इकट्ठे किए गए। कुछ हेर फेरके साथ वही बँधी पदावली, वेदनाका वही प्रकाण्ड प्रदर्शन, कुछ विशृंखलताके साथ प्रायः सब कविताओंमें मिलने लगा।

अज्ञेय और अव्यक्तको अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर काम-वासनाके शब्दोंमें प्रेम-व्यंजना भारतीय काव्य-धारामें कभी नहीं चली, यह स्पष्ट बात 'हमारे यहाँ यह भी था वह भी था' की प्रवृत्तिवालोंको अच्छी नहीं लगती। इससे खिन्न होकर वे उपनिषदसे लेकर तंत्र और योग-मार्ग तककी दौड़ लगाते हैं। उपनिषदोंमें आए हुए आत्माके पूर्ण आनंदस्वरूपके निर्देश, ब्रह्मानंदकी अपरिमेयताको समझानेके लिए स्त्री-पुरुष-संबंधवाले दृष्टांत या उपमाएँ, योगके सहस्रदल कमल आदिकी भावनाके बीज वे बड़े संतोषके साथ उद्धृत करते हैं। यह सब करनेके

पहले उन्हें समझना चाहिए कि जो बात ऊपर कही गई है उसका तात्पर्य क्या है। यह कौन कहता है कि मत-मतांतरोंकी साधनाके क्षेत्रमें रहस्य-मार्ग नहीं चले? योग रहस्य-मार्ग है, तंत्र रहस्य-मार्ग है, रसायन भी रहस्य-मार्ग है। पर ये सब साधनात्मक हैं; प्रकृत भाव-भूमि या काव्य-भूमिके भीतर चले हुए मार्ग नहीं। भारतीय परंपराका कोई कवि मणिपूर अनाहत आदि चक्रोंको लेकर तरह तरहके रंगमहल बनानेमें प्रवृत्त नहीं हुआ।

संहिताओंमें तो अनेक प्रकारकी बातोंका संग्रह है। उपनिषदोंमें ब्रह्म और जगत्, आत्मा और परमात्माके संबंधमें कई प्रकारके मत हैं। वे काव्य-ग्रंथ नहीं हैं। उनमें इधर काव्यका जो स्वरूप मिलता है वह ऐतिह्य, कर्मकांड, दार्शनिक चिन्तन, सांप्रदायिक गुह्य साधना, मंत्र-तंत्र, जादू-टोना इत्यादि बहुत-सी बातोंमें उलझा हुआ है। विशुद्ध काव्यका निखरा हुआ स्वरूप पीछे अलग हुआ। रामायणका आदि-काव्य कहलाना साफ यही सूचित करता है। संहिताओं और उपनिषदोंको कभी किसीने काव्य नहीं कहा। अब सीधा सवाल यह रह गया कि क्या वाल्मीकिसे लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक कोई एक भी ऐसा कवि बताया जा सकता है जिसने अज्ञेय और अव्यक्तको अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर प्रियतम बनाया हो और उसके प्रति कामुकताके शब्दोंमें प्रेम व्यंजना की हो। कबीरदास जिस प्रकार हमारे यहाँके ज्ञानवाद और सूफियोंके भावात्मक रहस्यवादको लेकर चले, उसी भावात्मक रहस्य-परंपराका यह नूतन भाव-भंगी और लाक्षणिकताके साथ आविर्भाव है। बहुत रमणीय है, कुछ लोगोंको अत्यंत रुचिकर है, यह और बात है।

प्रणय-वासनाका यह उद्‌गार आध्यात्मिक पर्देमें ही छिपा न रह सका, हृदयकी सारी काम-वासनाएँ, इंद्रियोंके सुख-विलासकी मधुर और रमणीय

सामग्रीके बीच, एक बँधी हुई रूढिपर व्यक्त होने लगीं। इस प्रकार रहस्य-वादसे संबंध न रखनेवाली कविताएँ भी छाया-वाद ही कही जाने लगीं। अतः 'छाया-वाद' शब्दका प्रयोग रहस्य-वाद तक ही न रहकर काव्य-शैलीके संबंधमें भी प्रतीकवाद (Symbolism) के अर्थमें होने लगा।

छाया-वादकी इस धाराके आनेके साथ ही साथ अनेक लेखक नव-युगके प्रतिनिधि बनकर योरपके साहित्य-क्षेत्रमें प्रवर्तित काव्य और कला-संबंधी अनेक नए पुराने सिद्धांत सामने लाने लगे। कुछ दिन 'कलावाद' की धूम रही और कहा जाता रहा "कलाका उद्देश्य कला ही है, इस जीवनके साथ काव्यका कोई सम्बन्ध नहीं; उसकी दुनिया ही और है। किसी काव्यके मूल्यका निर्धारण जीवनकी किसी वस्तुके मूल्यके रूपमें नहीं हो सकता। काव्य तो एक लोकातीत वस्तु है। कवि एक प्रकारका रहस्यदर्शी (Seer) या पैगंबर है।" इसी प्रकार क्रोचेके अभिव्यंजनावादको लेकर बताया गया कि "काव्यमें वस्तु या वर्ण्य विषय कुछ नहीं; जो कुछ है वह अभिव्यंजनाके ढंगका अनूठापन है।" इन दोनों वादोंके अनुसार काव्यका लक्ष्य उसी प्रकार सौंदर्यकी सृष्टि या योजना कहा गया जिस प्रकार बेल-बूटे या नक्काशीका। कवि-कल्पना प्रत्यक्ष-जगत्से अलग एक रमणीय स्वप्न घोषित किया जाने लगा और कवि सौंदर्य-भावनाके मदमें झूमनेवाला एक लोकातीत जीव। कला और काव्यकी प्रेरणाका सम्बन्ध स्वप्न और काम-वासनासे बतानेवाला मत भी इधर-उधर उद्धृत हुआ। सारांश यह कि इस प्रकारके अनेक वाद-प्रवाद पत्र-पत्रिकाओंमें निकलते रहे।

छायावादकी कविताकी पहली दौड़ तो बंग-भाषाकी रहस्यात्मक कविताओंके सजीले और कोमल मार्गपर हुई। पर उन कविताओंकी बहुत कुछ गति-विधि अँगरेजी वाक्य-खंडोंके अनुवादद्वारा संघटित

देख, अँगरेजी काव्योंसे परिचित हिंदी-कवि सीधे अँगरेजीसे ही तरह तरहके लाक्षणिक प्रयोग लेकर उनके ज्योंके त्यों अनुवाद जगह जगह अपनी रचनाओंमें जड़ने लगे। 'कनक प्रभात,' 'विचारोंमें बच्चोंकी सांस,' 'स्वर्ण समय,' 'प्रथम मधुबाल,' 'तारिकाओंकी तान,' 'स्वप्निल कांति' ऐसे प्रयोग अजायबघरके जानवरोंकी तरह उनकी रचनाओंके भीतर इधर उधर मिलने लगे। निरालाजीकी शैली कुछ अलग रही। उनमें लाक्षणिक वैचित्र्यका उतना आग्रह नहीं पाया जाता जितना पदावलीकी तड़क-भड़क और पूरे वाक्यके वैलक्षण्यका। केवल भाषाके प्रयोग-वैचित्र्य तक ही बात न रही। ऊपर जिन अनेक यूरोपीय वादों और प्रवादोंका उल्लेख हुआ है, उन सबका प्रभाव भी छायावाद कही जानेवाली कविताओंके स्वरूपपर कुछ न कुछ पड़ता रहा।

कलावाद और अभिव्यंजनावादका पहला प्रभाव यह दिखाई पड़ा कि काव्यमें भावानुभूतिके स्थानपर कल्पनाका विधान ही प्रधान समझा जाने लगा और कल्पना अधिकतर अप्रस्तुतोंकी योजना करने तथा लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और विचित्रता लानेमें ही प्रवृत्त हुई। प्रकृतिके नाना रूप और व्यापार इसी अप्रस्तुत योजनाके काममें लाए गए। सीधे उनके मर्मकी ओर हृदय प्रवृत्त न दिखाई पड़ा। पंतजी अलबत्ता प्रकृतिके कमनीय रूपोंकी ओर कुछ रुककर हृदय रमाते पाए गए।

दूसरा प्रभाव यह देखनेमें आया कि अभिव्यंजना-प्रणाली या शैलीकी विचित्रता ही सब कुछ समझी गई। नाना अर्थ-भूमियोंपर काव्यका प्रसार रुक-सा गया। प्रेम-क्षेत्र (कहीं आध्यात्मिक, कहीं लौकिक) के भीतर ही कल्पनाकी चित्र-विधायिनी क्रीडाके साथ प्रकांड वेदना, औत्सुक्य, उन्माद आदिकी व्यंजना तथा व्रीडासे दौड़ी हुई प्रियके

कपोलों-परकी ललाई, हाव-भाव, मधुस्राव तथा अश्रुप्रवाह इत्यादिके रंगीले वर्णन करके ही अनेक कवि अबतक पूर्ण तृप्त दिखाई देते हैं। जगत् और जीवनके नाना मार्मिक पक्षोंकी ओर उनकी दृष्टि नहीं है। बहुतसे नए रसिक प्रस्वेद-गंधयुक्त, चिपचिपाती और मिनमिनाती भाषाको ही सब कुछ समझने लगे हैं। लक्षणाशक्तिके सहारे अभिव्यंजना-प्रणाली या काव्यशैलीका अवश्य बहुत अच्छा विकास हुआ है; पर अभीतक कुछ बँधे हुए शब्दोंकी रूढि चली चल रही है। रीति-कालकी शृंगारी कविता—कभी रहस्यका पर्दा डालकर, कभी खुले मैदान—अपनी कुछ अदा बदलकर फिर प्रायः सारा काव्य-क्षेत्र छेंककर चल रही है।

'कलावाद' के प्रसंगमें बार बार आनेवाले 'सौन्दर्य' शब्दके कारण बहुतसे कवि बेचारी स्वर्गकी अप्सराओंको पर लगाकर कोहकाफकी परियों या बिहिश्तके फरिश्तोंकी तरह उड़ाते हैं; सौंदर्य-चयनके लिए इंद्रधनुषी बादल, उषा, विकच कलिका, पराग, सौरभ, स्मित, आनन, अधर, पल्लव इत्यादि बहुत-सी सुंदर और मधुर सामग्री प्रत्येक कवितामें जुटाना आवश्यक समझते हैं। स्त्रीके नाना अंगोंके आरोपके बिना वे प्रकृतिके किसी दृश्यके सौंदर्यकी भावना ही नहीं कर सकते। 'कला कला' की पुकारके कारण यूरोपमें प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) का ही अधिक चलन देखकर यहाँ भी उसीको जमाना यह बताकर कहा जाने लगा कि अब ऐसी लंबी कविताएँ पढ़नेकी किसीको फुरसत कहाँ, जिनमें कुछ इतिवृत्त भी मिला रहता हो। अब तो विशुद्ध काव्यकी सामग्री जुटाकर सामने रख देनी चाहिए जो छोटे छोटे प्रगीत मुक्तकोंमें ही संभव हैं। इस प्रकार काव्यमें जीवनकी अनेक परिस्थितियोंकी ओर ले जानेवाले प्रसंग या आख्यानोंकी उद्भावना बंद-सी हो गई।

खैरियत यह हुई कि कलावादकी उस रस-वर्जिनी सीमा तक लोग नहीं बढ़े जहाँ यह कहा जाता है कि रसानुभूतिके रसमें किसी प्रकारका भाव जगाना तो वक्ताओंका काम है; कलाकारका काम तो केवल कल्पना-द्वारा बेल-बूटे या बारातकी फुलवारीकी तरहकी शब्दमयी रचना खड़ी करके सौंदर्यकी अनुभूति उत्पन्न करना है। हृदय और वेदनाका पक्ष छोड़ा नहीं गया है, इससे काव्यके प्रकृत स्वरूपके तिरोभावकी आशंका नहीं है। पर छाया-वाद और कलावादके सहसा आ धमकनेसे वर्तमान काव्यका बहुत-सा अंश एक ही बँधी हुई लीकके भीतर सिमट गया, नाना अर्थ-भूमियोंपर न जाने पाया, यह अवश्य कहा जायगा।

छाया-वादकी शाखाके भीतर धीरे धीरे काव्य-शैलीका बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें संदेह नहीं। उसमें भावावेशकी आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त प्रत्यक्षीकरण, भाषाकी वक्रता, विरोध-चमत्कार, कोमल-पद-विन्यास इत्यादि काव्यका स्वरूप संघटित करनेवाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी। भाषाके परिमार्जन-कालमें किस प्रकार खड़ी बोलीकी कविताके रूखे-सूखे रूपसे ऊबकर कुछ कवि उसमें सरसता लानेके चिह्न दिखा रहे थे, यह कहा जा चुका है। अतः आध्यात्मिक रहस्यवादका नूतन रूप हिन्दीमें न आता, तो भी शैली और अभिव्यंजना-पद्धतिकी उक्त विशेषताएँ क्रमशः स्फुरित होतीं और उनका स्वतंत्र विकास होता। हमारी काव्य-भाषामें लाक्षणिकताका कैसा अनूठा आभास घनानंदकी रचनाओंमें मिलता है, यह पाठक जानते ही होंगे।

छायावाद जहाँ आध्यात्मिक प्रेम लेकर चलता है वहाँतक तो रहस्य-वादके ही अंतर्गत रहा है। उसके आगे प्रतीकवाद या चित्रभाषावाद (Symbolism) नामकी काव्य-शैलीके रूपमें गृहीत होकर भी वह

अधिकतर प्रेम-गान ही करता रहा है। हर्षकी बात है कि अब कई कवि उस संकीर्ण क्षेत्रसे बाहर निकलकर जगत् और जीवनके और और मार्मिक पक्षोंकी ओर भी बढ़ते दिखाई दे रहे हैं। इसीके साथ ही काव्य-शैलीमें प्रतिक्रियाके प्रदर्शन या नएपनकी नुमाइशका शौक भी घट रहा है। अब अपनी शाखाकी विशिष्टताको विभिन्नताकी हदपर ले जाकर दिखानेकी प्रवृत्तिका वेग क्रमशः कम तथा रचनाओंको सुव्यवस्थित और अर्थगर्भित रूप देनेकी रुचि क्रमशः अधिक होती दिखाई पड़ती है।

स्व० जयशंकर प्रसाद अधिकतर तो विरह-वेदनाके नाना सजीले शब्दपथ निकालते तथा लौकिक और अलौकिक प्रणयका मधु-गान हीं करते रहे, पर इधर 'लहर' में कुछ ऐतिहासिक वृत्त लेकर छायावाद-की चित्रमयी शैलीको विस्तृत अर्थभूमिपर ले जानेका प्रयास भी उन्होंने किया और जगत्के वर्तमान दुःख-द्वेषपूर्ण मानव-जीवनका अनुभव करके इस 'जले जगत्के वृन्दावन बन जाने' की आशा भी प्रकट की तथा 'जीवनके प्रभात' को भी जगाया। इसी प्रकार श्री सुमित्रानंदन पंतने 'गुंजन' में सौन्दर्य-चयनसे आगे बढ़ जीवनके नित्य स्वरूपपर भी दृष्टि डाली है। सुख-दुःख दोनोंके साथ अपने हृदयका सामंजस्य किया है और 'जीवनकी गतिमें भी लय' का अनुभव किया है। बहुत अच्छा होता यदि पंतजी उसी प्रकार जीवन-की अनेक परिस्थितियोंको नित्य रूपमें लेकर अपनी सुंदर, चित्रमयी प्रतिभाको अग्रसर करते जिस प्रकार उन्होंने 'गुंजन' और 'युगांत' में किया है। पर 'युगवाणी' में उनकी वाणी बहुत-कुछ वर्तमान आंदोलनोंकी प्रतिध्वनिके रूपमें परिणत होती दिखाई देती है।

निरालाजीकी रचनाका क्षेत्र तो पहलेसे ही कुछ विस्तृत रहा। उन्होंने जिस प्रकार 'तुम' और 'मैं' में उस रहस्यमय 'नाद वेद आकार

सार' का गान किया, 'जूहीकी कली' और 'शेफालिका' में उन्मद प्रणय-चेष्टाओंके पुष्प-चित्र खड़े किए उसी प्रकार 'जागरण-वीणा' बजाई; इस जगत्के बीच विधवाकी विधुर और करुण मूर्ति खड़ी की और इधर आकर 'इलाहाबादके पथपर' एक पत्थर तोड़ती दीन स्त्रीके माथेपरके श्रम-सीकर दिखाए। सारांश यह कि अब शैलीके वैलक्षण्यद्वारा प्रतिक्रिया-प्रदर्शनका वेग कम हो जानेसे अर्थभूमिके रमणीय प्रसारके चिह्न भी छायावादी कहे जानेवाले कवियोंकी रचनाओंमें दिखाई पड़ रहे हैं।

इधर हमारे साहित्य-क्षेत्रकी प्रवृत्तियोंका परिचालन बहुत-कुछ पश्चिमसे होता है। कलामें 'व्यक्तित्व' की चर्चा खूब फैलनेसे कुछ कवि लोकके साथ अपना मेल न मिलनेकी अनुभूतिकी बड़ी लंबी-चौड़ी व्यंजना, कुछ मार्मिकता और कुछ फक्कड़पनके साथ, करने लगे हैं। भावक्षेत्रमें असामंजस्यकी इस अनुभूतिका भी एक स्थान अवश्य है। पर यह कोई व्यापक या स्थायी मनोवृत्ति नहीं। हमारा भारतीय काव्य उस भूमिकी ओर प्रवृत्त रहा है जहाँ जाकर प्रायः सब हृदयोंका मेल हो जाता है। वह सामंजस्यको लेकर, अनेकताको लेकर चलता रहा है, असामंजस्यको लेकर नहीं।

रहस्यवाद : उसकी व्याख्या

रहस्यवाद जीवात्माकी उस अंतर्हित प्रवृत्तिका प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्तिसे अपना शांत और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है। और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनोंमें कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। जीवात्माकी सारी शक्तियाँ इसी शक्तिके अनंत वैभव और प्रभावसे ओत-प्रोत हो जाती हैं। जीवनमें केवल उसी दिव्य शक्तिका अनंत तेज अन्तर्हित हो जाता है और जीवात्मा अपने अस्तित्वको एक प्रकारसे भूल-सा जाती है। एक भावना, एक वासना हृदयमें प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है और वह भावना सदैव जीवनके अंग-प्रत्यंगोंमें प्रकाशित होती रहती है। यही दिव्य संयोग है। आत्मा उस दिव्य शक्तिसे इस प्रकार मिल जाती है कि आत्मामें परमात्माके गुणोंका प्रदर्शन होने लगता है और परमात्मामें आत्माके गुणोंका प्रदर्शन।

इस संयोगमें एक प्रकारका उन्माद होता है, नशा रहता है। उस एकांत सत्यसे, उस दिव्य शक्तिसे जीवका ऐसा प्रेम हो जाता है कि वह अपनी सत्ता परमात्माकी सत्तामें अंतर्हित कर देता है। उस प्रेममें चंचलता नहीं रहती, अस्थिरता नहीं रहती। वह प्रेम अमर होता है।

ऐसे प्रेममें जीवकी सारी इंद्रियोंका एकीकरण हो जाता है। सारी इंद्रियोंसे एक स्वर निकलता है और उनमें अपने प्रेमकी वस्तुके पानेकी लालसा समान रूपसे होने लगती है। इंद्रियाँ अपने आराध्य प्रेमको पानेके लिए उत्सुक हो जाती हैं और उनकी उत्सुकता इतनी बढ़ जाती है कि वे उसके विविध गुणोंका ग्रहण समान रूपसे करती हैं। अन्तमें वह सीमा इस स्थितिको पहुँचती है कि भावोन्मादमें वस्तुओंके

विविध गुण एक ही इंद्रिय पानेकी क्षमता प्राप्त कर लेती है। ऐसी दशामें शायद इंद्रिया भी अपना कार्य बदल देती हैं। एक बार प्रो० जेम्सने यही समस्या आदर्शवादियोंके सामने सुलझानेके लिये रक्खी थी कि यदि इंद्रियाँ अपनी अपनी कार्य-शक्ति एक दूसरेसे बदल लें, तो संसारमें क्या क्या परिवर्तन हो जायँगे? उदाहरणार्थ, यदि हम रंगोंको सुनने लगें और ध्वनियोंको देखने लगें, तो हमारे जीवनमें क्या अन्तर आ जायगा? इसी विचारके सहारे हम सेंट मार्टिनकी रहस्यवादसे सम्बन्ध रखनेवाली परिस्थिति समझ सकते हैं। जब उन्होंने कहा था कि मैंने उन फूलोंको सुना जो शब्द करते थे और उन ध्वनियोंको देखा जो जाज्वल्यमान थीं।

अन्य रहस्यवादियोंका भी कथन है कि उस दिव्य अनुभूतिमें इंद्रियाँ अपना काम करना भूल जाती है। वे निस्तब्ध-सी होकर अपने कार्य-व्यापारको ही नहीं समझ सकतीं। ऐसी स्थितिमें आश्चर्य ही क्या कि इंद्रियाँ अपना कार्य अव्यावस्थित रूपसे करने लगें। इसी बातसे हम उस दिव्य अनुभूतिके आनन्दका परिचय पा सकते हैं जिसमें हमारी सारी इंद्रियाँ मिलकर एक हो जाती हैं, अपना कार्य-व्यापार भूल जाती हैं। जब हम उस अनुभूतिका विश्लेषण करने बैठते हैं तो उसमें हमें न जाने कितने गूढ़ रहस्यों और आश्चर्यमय व्यापारोंका पता लगता है।

रहस्यवादके उन्मादमें जीव इन्द्रिय-जगतसे बहुत ऊपर उठकर विचार-शक्ति और भावनाओंका एकीकरण कर अनन्त और अंतिम प्रेमके आधारसे मिल जाना चाहता है। यही उसकी साधना है, यही उसका उद्देश्य है। उसमें जीव अपनी सत्ताको खो देता है। मैं, मेरा, और मुझे-का विनाश रहस्यवादका एक आवश्यक अंग है। एक अपरिमित शक्तिकी

गोदहीमें 'मैं' और 'मेरा' सदैवके लिए अंतर्हित हो जाते हैं। वहाँ जीव अपना आधिपत्य नहीं रख सकता। एक सेवककी भाँति अपनेको स्वामीके चरणोंमें भुला देना चाहता है। संसारके इन बाह्य बन्धनोंका विनाश कर आत्मा ऊपर उठती है। हृदयकी भावना साकार बनकर ऊपरकी ओर जाती है केवल इसलिए कि वह अपनी सत्ता एक असीम शक्तिके आगे डाल दे। हृदयकी इस गतिमें कोई स्वार्थ नहीं, संसारकी कोई वासना नहीं, कोई सिद्धि नहीं, किसी ऐश्वर्यकी प्राप्ति नहीं, केवल हृदयके प्रेमकी पूर्ति है। और ऐसा हृदय वह चीज है जिसमें केवल भावनाओंका केंद्र ही नहीं वरन् जीवनकी वह अंतरंग अभिव्यक्ति है जिसके सहारे संसारके बाह्य पदार्थोंमें उसकी सत्ता निर्धारित होती है। अनन्त सत्ताके सामने जीव अपनेको इतने समीप ला देता है कि उसको साधारणसे साधारण भावनामें उस अनंत शक्तिकी अनुभूति होने लगती है। अँगरेजीके एक कवि कौलरिजने इसी भावनाको इस प्रकार प्रकट किया है:—

हम अनुभव करते हैं कि हम कुछ नहीं हैं
क्योंकि तू सब कुछ है और सब कुछ तुझमें है।

हम अनुभव करते हैं कि हम कुछ हैं,
वह भी तो तुझसे प्राप्त हुआ है।
हम जानते हैं कि हम कुछ भी नहीं हैं
परंतु तू हमें अस्तित्व प्राप्त करनेमें सहायक होगा।
तेरे पवित्र नामकी जय हो!

कबीरकी निम्नलिखित प्रसिद्ध पंक्तियाँ इस विचारको कितने सरल और स्पष्टरूपसे सामने रखती हैं:—

लोका जानि न भूली भाई,
खालिक खलक, खलकमें खालिक
सब घट रह्यो समाई ।

अतएव हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि रहस्यवाद अपने नग्न स्वरूपमें एक अलौकिक विज्ञान है जिसमें अनंत संबंधकी भावनाका प्रादुर्भाव होता है और रहस्यवादी वह व्यक्ति है जो इस संबंधके अत्यंत निकट पहुँचता है। उसे कहता ही नहीं, उसे जानता ही नहीं वरन् उस संबंध को ही धारण कर वह अपनी आत्माको भूल जाता है।

अब हमें ऐसी स्थितिका पता लगाना है जहाँ आत्मा भौतिक बंधनोंका बहिष्कार कर संसारके नियमोंका प्रतिकार कर ऊपर उठती है और उस अनंत जीवनमें प्रवेश करती है जहाँ आराधक और आराध्य एक हो जाते हैं, जहाँ आत्मा और अनंत शक्तिका एकीकरण हो जाता है, जहाँ आत्मा यह भूल जाती है कि वह संसारकी निवासिनी है और उसका इस दैवी वातावरणमें आना एक अतिथिके आनेके समान है।

अँगरेजीमें जार्ज हरबर्टने ऐसा कहा है—'ओ अब भी मेरे हो जाओ, अब भी मुझे अपना बना लो, इस 'मेरे' और 'तेरे' का भेद ही न रक्खो।'

ऐसी स्थितिका निश्चित रूपसे निर्देश नहीं किया जा सकता। इस संयोगके पास पहुचनेके पूर्व न जाने कितनी दशाएँ, उनमें भी न जाने कितनी अंतर्दशाएँ हैं, जिनसे रहस्यवादके उपासक अपनी शक्तिभर ईश्वरीय अनुभूति पाना चाहते हैं। इसी लिए रहस्यवादियोंकी उत्कृष्टतामें अंतर जान पड़ता है। कोई केवल ईश्वरकी अनुभूति करता है, कोई उसे केवल प्यार कर सकने योग्य बन सका है, कोई अभिन्नताकी स्थितिपर है और कोई पूर्ण रूपसे आराध्यके अधीन है। सेंट आगस्टाईन,

कबीर, जलालुद्दीन रूमी यद्यपि ऊँचे रहस्यवादी थे तथापि उनकी स्थितियोंमें अन्तर था।

हम रहस्यवादियोंकी उद्देश्य-प्राप्तिमें तीन परिस्थितियोंकी कल्पना कर सकते हैं। पहली परिस्थिति तो वह है जहाँ वह व्यक्तिविशेष अनंत शक्तिसे अपना संबंध जोड़नेके लिए अग्रसर होता है। वह संसारकी सीमाको पार कर ऐसे लोकमें पहुँचता है जहाँ भौतिक बंधन नहीं, जहाँ संसारके नियम नहीं, जहाँ उसे अपने शारीरिक अवरोधोंकी परवाह नहीं है।

वह ईश्वरके समीप पहुँचता है और दिव्य विभूतियोंको देखकर चकित हो जाता है। यह रहस्यवादीकी प्रथम परिस्थिति है। इस परिस्थितिका वर्णन कबीरने बड़ी सुंदर रीतिमें किया है:—

घट घटमें रटना लागि रही,
परघट हुआ अलेख जी।
कहुं चोर हुआ कहुं साह हुआ
कहुं ब्राह्मण है कहुं सेखजी ॥

तात्पर्य यह है कि यहाँ संसारकी सभी वस्तुएँ अनंत शक्तिमें विश्राम पाती हैं और सभी अनंत सत्तामें आकर मिल जाती हैं। यहाँ रहस्यवादीने अपने लिये कुछ भी नहीं कहा है, वह चुप है। उसे ईश्वरकी इस अनंत शक्तिपर आश्चर्य-सा होता है। वह मौन होकर इन बातोंको देखता-सुनता है। यद्यपि ऐसे समय वह अपना व्यक्तित्व भूल जाता है पर ईश्वरकी अनुभूति स्वयं अपने हृदयमें पानेमें असमर्थ रहता है। इसे हम रहस्य-वादियोंकी प्रथम स्थिति कहेंगे।

द्वितीय स्थिति तब आती है जब आत्मा परमात्मासे प्रेम करने लग जाती है। भावनाएँ इतनी तीव्र हो जाती हैं कि आत्मामें एक प्रकारका

उन्माद या पागलपन छा जाता है। आत्मा मानों प्रकृतिका रूप रख पुरुष—आदिपुरुष—से प्यार करती है। संसारकी अन्य वस्तुएँ उसकी नजरसे हट जाती हैं। आश्चर्य-चकित होनेकी अवस्था निकल जाती है और रहस्यवादी चुपचाप अपने आराध्यको प्यार करने लग जाता है। वह प्यार इतना प्रबल होता है कि उसके समक्ष विश्वकी कोई चीज नहीं ठहर सकती। वह प्रेम बरसातके उस प्रबल नालेकी भाँति होता है जिसके सामने कोई भी वस्तु नहीं रुक सकती। पेड़ पत्थर, झाड़ झँखाड़ सब उस प्रवाहमें बह जाते हैं। उसी प्रकार प्रेमके आगे कोई भी वासना नहीं ठहर सकती। सभी भावनाएँ, हृदयकी सभी वासनाएँ बड़े जोरसे एक ओरको बह जाती हैं और एक केवल एक भाव रह जाता है और वह प्रेमका प्रबल प्रवाह। जिस प्रकार किसी जल-प्रपातके शब्दमें समीपके सभी छोटे छोटे स्वर अन्तर्हित हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार उस ईश्वरीय प्रेममें सारे विचार या तो लुप्त ही हो जाते हैं अथवा उसी प्रेमके बहावमें बह जाते हैं। फिर कोई भावना उस प्रेमके प्रबल प्रवाहके रोकनेको आगे नहीं आ सकती।

इसके पश्चात् रहस्यवादियोंकी तीसरी स्थिति आती है जो रहस्य-वादकी चरम सीमा कहला सकती है। इस दशामें आत्मा और पर-मात्माका इतना एकीकरण हो जाता है कि फिर उनमें कोई भिन्नता नहीं रहती। आत्मा अपनेमें परमात्माका अस्तित्व मानती है और परमात्माके गुणोंको प्रकट करती है। जिस प्रकार प्रारम्भिक अवस्थामें आग और लोहेका एक गोला, ये दोनों भिन्न हैं पर जब आगसे तपाये जानेपर गोला भी लाल होकर अग्निका स्वरूप धारण कर लेता है तब लोहेके गोलेमें वस्तुओंके जलानेकी वही शक्ति आ जाती है जो आगमें है। यदि गोला

आगसे अलग भी रख दिया जाय तो भी वह लाल स्वरूप रखकर अपने चारों ओर आँच फेंकता रहेगा। यही हाल आत्माका परमात्माके संसर्गसे होता है। यद्यपि प्रारंभिक अवस्थामें मायाके वातावरणमें आत्मा और परमात्मा दो भिन्न शक्तियाँ जान पड़ती हैं पर जब दोनों आपसमें मिलती हैं तो परमात्माके गुणोंका प्रवाह आत्मामें इतने अधिक वेगसे होता है कि आत्माके स्वाभाविक निजके गुण तो लुप्त हो जाते हैं और परमात्माके गुण प्रकट जान पड़ते हैं। वही अभिन्न संबंध रहस्य-वादियोंकी चरम सीमा है। इसका फल क्या होता है—

गंभीर एकान्त सत्यका परिचय
परम शांतिकी अवतारणा
जीवनमें अनंत शक्ति और चेतना
प्रेमका अभूत-पूर्व आविर्भाव
श्रद्धा और भय—

—भय, वह भय नहीं जिससे जीवनकी शक्तियोंका नाश हो जाता है किंतु वह भय जो आश्चर्यसे प्रादुर्भूत होता है और जिसमें प्रेम, श्रद्धा और आदरकी महान् शक्तियाँ छिपी रहती हैं। ऐसी स्थितिमें जीवनमें व्यापक शक्तियाँ आती हैं और आत्मा इस बंधनमय संसारसे ऊपर उठकर उस लोकमें पहुच जाती है जहाँ प्रेमका अस्तित्व है और जिसके कारण आत्मा परमात्मामें कुछ भिन्नता नहीं प्रतीत होती। अनंतकी दिव्य विभूति जीवनका आवश्यक अंग बनती है और शरीरकी सारी शक्तियाँ निराव-लम्ब होकर अपनेको अनंतकी गोदमें फेंक देती हैं।

जिस प्रकार मछलियाँ समुद्रमें तैरती हैं, जिस प्रकार पक्षी वायुमें झूलते हैं, उसी प्रकार हम भी तेरे आलिंगनसे विमुख नहीं हो सकते। हम साँस लेते हैं और तू वहाँ वर्तमान है।

इस प्रकार रहस्यवादी दैवी शक्तिसे युक्त होकर संसारके अन्य मनुष्योंसे बहुत ऊपर उठ जाता है। उसका अनुभव भी अधिक विस्तृत और आध्यात्मिक हो जाता है। उसका संसार ही दूसरा हो जाता है और वह किसी दूसरे ही वातावरणमें विचरण करने लगता है।

किंतु रहस्यवादीकी यह अनुभूति व्यक्तिगत ही समझनी चाहिए। उसका एक कारण है। वह अनुभूति इतनी दिव्य, इतनी अलौकिक होती है कि संसारके शब्दोंमें उसका स्पष्टीकरण असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। वह कांति दिव्य है, अलौकिक है। हम उसे साधारण आँखोंसे नहीं देख सकते। वह ऐसा गुलाब है जो किसी बागमें नहीं लगाया जा सकता, केवल उसकी सुगंध ही पाई जा सकती है। वह ऐसी सरिता है कि उसे हम किसी प्रशांत-वनमें नहीं देख सकते वरन् उसे कल-कल-नाद करते हुए ही सुन सकते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि संसारकी भाषा इतनी ओछी है कि उसमें हम पूर्ण रीतिसे रहस्यवादकी अनुभूति प्रकट ही नहीं कर सकते। दूसरी बात यह है कि रहस्यवादकी यह भावुक विवेचना समझनेकी शक्ति भी तो सर्व साधारणमें नहीं है। रहस्यवादी अपने अलौकिक आनंदमें विभोर होकर यदि कुछ कहता है तो लोग उसे पागल समझते हैं। साधारण मनुष्योंके विचार इतने उथले हैं कि उनमें रहस्यवादकी अनुभूति समा ही नहीं सकती। इसीलिए 'अलहल्लाज-मंसूर' अपनी अनुभूतिका गीत गाते गाते थक गया पर लोग उसे समझ ही नहीं सके। लोगोंने उसे ईश्वरीय सत्ताका विनाश करनेवाला समझकर फाँसी दे दी। इसी लिए रहस्य-वादियोंको अनेक स्थलोंपर चुप रहना पड़ता है। उसका कारण वे यही बतला सकते हैं कि

'नश्वर स्वरसे कैसे गाऊँ, आज अनश्वर गीत।'

समालोचना और निबंध

'समालोचना' शब्दका व्यवहार आजकल बहुत अस्त-व्यस्त अर्थमें हो रहा है। अँगरेजीके 'क्रिटिसिज्म,' 'रिव्यू,' 'ओपीनियन' आदि शब्दोंके सिवा संस्कृतके 'टीका-व्याख्या' आदि सभी अर्थोंमें इसका व्यवहार होते देखा गया है। साधारणतः समालोचकका कर्तव्य यह समझा जाता रहा है कि वह कवि और काव्यके दोष-गुणोंकी परीक्षा करे, उत्कर्ष-अपकर्षका निर्णय बतावे, और उपादेयता या अनुपादेयता-के संबंधमें परामर्श दे। सनातन कालसे समस्त देशोंमें काव्य-समालो-चक निम्नलिखित बातोंमेंसे एक, दो, या तीनोंका कार्य करते आये हैं। विश्लेषण, व्याख्या और उत्कर्षापकर्ष-विधान। लेकिन बहुत हालहीमें समालोचकके इस सनातन-समर्थित कर्तव्यको सन्देहकी दृष्टिसे देखा जाने लगा है।

सबसे पहला आक्रमण 'समालोचना' नामक विषयपर ही किया गया है। कवि और पाठकके बीच इस मध्यवर्ती बाधाकी उपकारितापर ही संशय प्रकट किया गया है। विभिन्न देश और कालके इतिहाससे इस प्रकारके सैकड़ों प्रमाण एकत्रित किये जा सके हैं कि एक ही नाटककारको दो समालोचक एकदम विरुद्ध रूपमें देखते हैं। फ्रांसके आलोचक बहुत दिनोंतक शेक्सपियरको असभ्य, जंगली और कला-शून्य समझते रहे और इंग्लैंडवाले संसारका सर्वश्रेष्ठ कलाकार! मिल्टनके 'पॅराडाइज लॉस्ट' को एक पंडितने बहुत ही उत्तम और दूसरेने अत्यन्त निकृष्ट कोटिका काव्य बताया था। हिंदीमें उसदिन तक देव और बिहारीके काव्योत्कर्षके विषयमें परस्परविरोधी मतोंका चख-

चल चलता रहा। केवल कवियोंकी ही नहीं, आलोचकोंकी भी, समीक्षा करते समय परस्परविरोधी मतोंकी बातें सुनाई देती है। श्री रामनाथ लाल 'सुमन' को जिस महीने श्री नगेंद्रने 'इमिजिनेटिव' या कल्पनावादी स्कूलका बताया, उसी महीने श्री बनमालीने 'इम्प्रेशनिष्ट' या प्रभाववादी संप्रदायका मान लिया। इस प्रकार प्रत्येक देश और प्रत्येक कालमें समालोचकके विश्लेषण, व्याख्या और उत्कर्षापकर्ष विधानोंमें गहरा मतभेद देखा जाता है। फिर भी इसके बिना काम भी नहीं चलता।

समस्त हिन्दी साहित्यको पढ़ना संभव नहीं है। उसपर अपना मत भी स्थिर करना सबके बूतेका नहीं है। इस अज्ञानकी अपेक्षा पं० रामचंद्र शुक्लका विशेष दृष्टिसे देखा हुआ साहित्यिक निष्कर्ष पढ़ना कहीं अधिक अच्छा है। इस प्रकार पं० रामचंद्र शुक्लका मत एक-दो स्थानों-पर भ्रामक होते हुए भी सब मिलाकर कामकी चीज सिद्ध हो सकता है, पर खतरा यह है कि पं० रामचंद्रको 'क' 'ख' 'ग' नामक समालोचकोंसे विशेष कैसे मान लें? कौनसा बाँट है जिससे हम शुक्लजीके भारीपन और दूसरोंके हल्केपनका निर्णय कर लें?

स्पष्ट ही हमें फिर एक दूसरे आदमीकी राय लेनी पड़ेगी और इस प्रकार मूल पुस्तक और अपने बीच हम एक और बाधा खड़ी कर लेंगे। सच पूछा जाय तो मूल पुस्तक और पाठकोंके बीच इस प्रकारकी बाधाओंकी परंपरा बड़ी खतरनाक साबित हुई है। इस वैज्ञानिक युगमें इसीलिये इन उत्कर्षापकर्षविधायिनी समालोचनाओंके प्रति एक तरहके विरागका वातावरण तैयार हुआ हैं। इसलिये कुछ पंडितोंने समालोचनाको बिल्कुल नये ढँगका शास्त्र बनाना चाहा है; क्योंकि उसके बिना जब काम चल

ही नहीं सकता और पुराना ढंग जब खतरनाक साबित हो ही चुका है तब क्यों न इस शास्त्रका आमूल संस्कार लिया जाय ?

इन नये पंडितोंका मत है कि समालोचनामें उत्कर्ष या अपकर्षका निर्णय नहीं होना चाहिये। वनस्पति-शास्त्री बबूल और गुलाबके सौंदर्य या गुणोंकी मात्राका विचार नहीं करता, वह केवल इनकी जातिका भेद बताता है। इसी प्रकार आलोच्य ग्रंथकारकी जातिका निर्णय करना चाहिये, गुण और दोषकी मात्राका नहीं।

प्राचीन निर्णयात्मिका समालोचना (जुडिशियल) के विरोधमें इसका नाम दिया गया है 'अभ्यूहमूला समालोचना' या (इंडक्टिव क्रिटिसिज्म)। इसमें कवियोंके प्रकार (काइंड) में भेद किया जाता है, मात्रा (डिग्री) में नहीं। समालोचक काव्यका विश्लेषण करते हैं, गुण-दोषका विवेचन नहीं। लेकिन वनस्पति-शास्त्रके बबूल और गुलाबका जाति-भेद बतानेके बाद भी एक ऐसे शास्त्रकी आवश्यकता रह जाती है जो बतावे कि इन दोनोंमेंसे किसका नियोग मानव-जातिके किस कल्याणमें किया जा सकता है। उसी प्रकार इस समालोचनाके बाद भी इस बातकी जरूरत रह जाती है कि, समालोचक (नहीं तो कोई और ही) बतावे कि, किस कविसे समाजको क्या लाभ या हानि है—अर्थात् समाजके लिये कौन कितना उत्कृष्ट या अपकृष्ट है। इस प्रकार समस्या जहाँकी तहाँ रह जाती है। असलमें सवाल 'जुडिशियल' या 'इण्डक्टिव' आलोचनाका नहीं है, सवाल है एक सामान्य निर्णायक साधनका। भारतवर्षके पंडितोंने अनेक रगड़-झगड़के बाद एक सामान्य मान ('कामन स्टॅण्डर्ड') बनानेकी चेष्टा की थी; पर हमने देखा है कि जमानेके परिवर्तनके साथ वह अब आदर्श व्यवस्था नहीं मानी जा सकती। फिर भी उनके सुझाये हुए मार्गसे नये स्टैंडर्डका उद्भावन किया जा सकता है।

मनुष्यका मन हजारों अनुकूल और प्रतिकूल धाराओंके संघर्षसे रूप ग्रहण करता है, उसे अगर प्रमाण मान लें तो मूल्य-निर्धारणका कोई एक सामान्य मान-दंड बन ही नहीं सकता। ग्राहक और विक्रेताको अपने अपने मनके अनुसार 'सेर' बनाने दिया जाय, तो बाजार बंद हो जायँगे। कविका कारबार इस मानसिक 'सेर' से चलता है, अन्ततः अब तक चलता रहा है। इधर समालोचक लोग अपने अपने मनके गढ़े 'सेर' लेकर पहुँचे हैं। जब हम समालोचककी रुचिकी बात कहते हैं, तो उसके इसी मन-गढ़न्त 'सेर' की बात कहते हैं। 'क' नामक समालोचक जिसको तीन सेर कहता है 'ख' उसे पौन सेर माननेको भी तैयार नहीं है। 'देव-पुरस्कार' के एक निर्णायकने एक पुस्तक पर ८९ नंबर दिये थे, दूसरेने २० और तीसरेने शून्य! अब यह तय है कि अपनी अपनी रुचि और अपने अपने संस्कार लेकर वस्तुका यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता, कोई एक सामान्य मानदण्ड होना चाहिये।

प्रभाववादी समालोचकोंने इस सामान्य मानदण्डके रास्तेमें विघ्न खड़ा किया है। पं० रामचंद्र शुक्लने इनकी समालोचनाके सम्बन्धमें अपने इतिहासमें कहा है कि प्रभावाभिव्यंजक समालोचना कोई ठीक-ठिकानेकी वस्तु ही नहीं। न ज्ञानके क्षेत्रमें उसका कोई मूल्य है, न भावके क्षेत्रमें। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ हैं। किसी कविकी आलोचना कोई इसलिये पढ़ने बैठता है कि उस कविके लक्ष्यको, उसके भावको ठीक समझकर अपना मनोरंजन करे। यदि किसी रमणीय अर्थ-गर्भित पद्यकी आलोचना इस रूपमें मिले कि 'एक बार इस कविताके प्रवाहमें पड़कर बहना ही पड़ता है। स्वयं कविको भी विवशताके साथ बहना पड़ता है, वह एकाधिक बार

मयूरकी भाँति अपने सौंदर्यपर आप ही नाच उठा है' तो उसे लेकर कोई क्या करेगा ?

आचार्य शुक्लका यह वक्तव्य जहाँ विशुद्ध बुद्धिमूलक चिन्तनको प्रधान मानकर समालोचनाके प्रभाववादी रूपकी उचित समीक्षा करता है, वहाँ यह भुला देता है कि काव्यकी समीक्षा चाहे जितनी बुद्धिमूलक क्यों न हो, है वह भावावेगको समझनेका प्रयत्न। सहृदयके हृदयमें वासना रूपसे स्थित भाव ही तो काव्यके अलौकिक चमत्कारका कारण है। फिर वह निस्संग कैसे हो सकता है ? जब तक सहृदयका व्यक्तित्व कविके साथ एकाकार नहीं हो जाता तब तक रसका अनुभव नहीं हो सकता। समीक्षक जब तक अपना अहंकार लेकर बैठा रहेगा तब तक रस नहीं पा सकेगा। स्वयं शुक्लजीने कहा है कि 'काव्यका जो चरम लक्ष्य सर्वभूतको आत्मभूत कराके अनुभव कराना है, उसके साधनमें भी अहंकारका त्याग आवश्यक है।'

लेकिन किसी भी बातके निर्णयका सामान्य मान-दण्ड मनुष्यके पास वर्तमान है। वह मानदण्ड है बुद्धि। किसी 'वस्तु' 'धर्म' या 'क्रिया' के वास्तविक रहस्यका पता लगानेके लिये उसे अपने अनुराग विराग या इच्छा-द्वेषके साथ सान नहीं देना चाहिये, बल्कि देखना चाहिये कि वह वस्तु, धर्म या क्रिया, देखनेवालेके विना भी अपने आपमें क्या है। गीतामें इसी बातको नाना भावसे बताया गया है। समालोचनाका जो ढर्रा प्रभाववादियोंने चला दिया है उसमें द्वंद्वोंद्वारा परिचालित होनेको दोषका कारण तो माना ही नहीं जाता, उल्टे कभी कभी उसके लिये गर्व किया जाता है।

सम्मतियोंकी इस बहुमुखी विरोधताका कारण यह है कि आलोच्य-वस्तुको आलोचक अपने मानसिक संस्कारोंके भीतरसे देखता है।

कभी कभी वह अपनी गलती खुद ही महसूस करता है और इसलिये अपनी सम्मतिके समर्थनमें वेदान्तसे लेकर काम-शास्त्रतकका हवाला पेश किया करता है। इस प्रकार शुरूमें ही अपनी रुचि अरुचिके जालसे आलोच्यको आच्छादित करनेवाली समालोचनाका भी नाम कभी कभी निर्णयात्मिका ('ज्युडिशियल') बताया जाता है। परन्तु वस्तुतः यह समालोचना 'निर्णयात्मिका' नहीं होगी, क्योंकि निर्णायक होनेके लिये इच्छा-द्वेषसे परे होना बहुत जरूरी है। परन्तु कहा जाता है कि समालोचनाकी दुनिया निराली होती है। अन्य वैज्ञानिक ठोस ठोस वस्तुओंकी नाप-जोख करते रहते हैं। पर समालोचक अनिंद्रिय-ग्राह्य अलौकिक रस-वस्तुकी जाँच करता है। इसलिये पहले उसे अपने मनोभावोंको ही प्रधानता देनी चाहिये। अर्थात् छूटते ही उसे जो काव्यादि 'अपील' कर जाय, उसीको उसे बुद्धि-परक विवेचनाका रूप देना चाहिये। परन्तु ऐसा करके आलोचक वस्तुतः कवि बनता है। अंतर यही होता है कि कवि फूल-पत्तोंको देखकर भावोन्मत्त होता है, और आलोचक कविताको, दोनों कब क्या कह जायँ, कुछ ठीक नहीं !

ऐसा स्वीकार करनेमें किसीको कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि कविके चित्तके अंतस्तलमें या उसके मनके अवचेतन स्तरमें ऐसी बहुत-सी चीजें होती हैं जो अनजानमें उसकी कवितामें आ जाती है, और आलोचकका दावा बिलकुल ठीक ही है कि वह उन अनजान प्रवृत्तियोंसे पाठकका परिचय कराता है। परन्तु जब वह कहता है कि उससे उसे किसी अनिर्वचनीय हेतु या कलाका संधान मिलता है, तो मुझे ऐसा लगता है कि वह मानव-बुद्धिपर जितना विश्वास करना चाहिये उतना नहीं करता। कोई चीज हमें सौ-दो-सौ कारणोंसे प्रभावित करती है। आज मनुष्यकी बुद्धि शायद उनमेंसे दस पाँचका ही ज्ञान

रखती है। बाकी अज्ञात हैं। किंतु वैज्ञानिकका यह धर्म है कि उसे जितना मालूम है उतना कहकर बाकीके लिये भावी पीढ़ियोंमें कुतूहल और उत्सुकताका भाव जगा जाय। यह नहीं कि कह दे कि बाकी किसी अज्ञात या अज्ञेय उत्ससे आ रहे हैं। यही कारण है कि आजका समालोचक पुराने समालोचकोंके रास्तेसे हटता जा रहा है।

पुराना समालोचक आलोच्य काव्य और कविताको अपने आपमें संपूर्ण मान लेता था, नया समालोचक ऐसा मानना नहीं चाहता; क्योंकि ऐसा मान लेनेसे काव्यादि साहित्याङ्ग मानवताके साध्य हो जाते हैं, मानवताकी अग्रगतिमें साधनाका कार्य करते हुए नहीं माने जाते। और अगर साध्यरूपसे ही साहित्यको पढ़ना हो तो प्राचीन हिंदीके अधिकांश साहित्यको याद रखनेकी कोई जरूरत नहीं। आधुनिक समालोचककी दृष्टि अपने सामनेकी समस्याओंपर रहती है। साहित्य उसके समझनेमें और सुलझानेमें उसके लिये सहायकका काम करता है। कवि उसके लक्ष्य नहीं, उपलक्ष्य होते हैं।

निबन्ध

लेकिन समालोचना केवल साहित्यिक ग्रन्थ तक ही सीमित नहीं रहती। संसारके विविध पदार्थोंको मनुष्यकी बुद्धिसे समझनेका प्रयत्न करती है। यह प्रयत्न जब केवल सूक्ष्म तर्क और बौद्धिक विलाससे आगे बढ़कर मनुष्यकी भावनाओं और अनुभूतियोंको आश्रय करके प्रकट होता है तो उसमें साहित्यिकता आ जाती है। साहित्यिक कृतियोंकी आलोचनामें भी हमने इस प्रकारका भावमिश्रण लक्ष्य किया हैं। प्रायः कविताको देखकर भाव-मदिर भाषामें प्रकट किये गये उद्गार देखनेको मिलते रहते हैं। वस्तुतः इनको 'साहित्यिक समालोचना' न कहकर समालोचनाके रूपमें 'व्यक्तिगत निबंध' कहना उचित है।

'निबंध' क्या है? प्राचीन संस्कृत-साहित्यमें 'निबंध'

नामका एक अलग साहित्यांग है। इन निबंधोंमें धर्मशास्त्रीय सिद्धांतोंकी विवेचना है। विवेचनाका ढंग यह है कि पहले पूर्व-पक्षमें ऐसे बहुतसे प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं जो लेखकके अभीष्ट सिद्धांतके प्रतिकूल पड़ते हैं। इस पूर्वपक्षवाली शंकाओंका एक एक करके उत्तर-पक्षमें जवाब दिया जाता है। सभी शंकाओंका समाधान हो जानेके बाद उत्तर पक्षके सिद्धांतकी पुष्टिमें कुछ और प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं। चूँकि इन ग्रंथोंमें प्रमाणोंका निबंधन होता है, इसलिये इन्हें 'निबंध' कहते हैं।

इस शंका-समाधान-मूलक पक्ष-स्थापनमें लेखककी रुचि-अरुचिका प्रश्न नहीं उठता। वह प्रमाणों और उनके पक्ष या विपक्षके उठ सकनेवाले तर्कोंसे बँधा होता है। इसलिये इन निबन्धोंमें बौद्धिक निस्संगता ही प्रधान रूपसे वर्तमान रहती है।

निस्संग बुद्धिसे विचार करनेका आदर्श रूप यह है कि यह दिखाया जाय कि कोई वस्तु द्रष्टा बिना भी कैसी है। एक सुन्दर फूल इसलिये सुन्दर लगता है कि वह द्रष्टाको सामंजस्यकी ओर उन्मुख करता है। वैज्ञानिक विवेचनासे यह सिद्ध हो सकता है कि फूल और कोयला दोनों ही वस्तुतः एक ही वस्तु हैं क्योंकि दोनों ही कुछ विद्युदणुओंके, जिन्हें 'इलेक्ट्रन' और 'प्रोटन' कहते हैं, समवाय हैं। यह निस्संग-बुद्धिका विषय है और उसका रास्ता विश्लेषण और सामान्यीकरणका है। किन्तु जब कोई द्रष्टा वस्तुको अपनी अरुचिके भीतरसे देखता है तो वस्तुतः वह संश्लिष्ट और विशिष्ट वस्तुको देखता है। वह यह नहीं देखता कि फूल किन किन उपादानोंसे बना है, बल्कि यह देखता है कि फूल बन-ठना लेनेके बाद कैसा है और संसारकी और सौ-पचास वस्तुओंसे क्या वैशिष्ट्य रखता है।

निस्संग बुद्धि वैज्ञानिक विवेचनका सहारा है और आसक्तचित्त सौंदर्य-मर्मज्ञका। संसारके विविध पदार्थोंको दोनों दृष्टिसे देखा जाता है। साहित्यमें दूसरा मार्ग स्वीकार किया गया है, इसलिये उन्हीं निबन्धोंका इस प्रसंगमें विवेचन होगा जो संश्लिष्ट और विशिष्ट रूपमें वस्तुओंको देखते हैं।

साहित्यिक समालोचनाके सिवा और भी बहुत-से ऐसे निबन्ध हैं जो साहित्यके अन्दर माने जा सकते हैं। निबन्धका प्रचलन भी कोई नया नहीं है। पुराने जमानेसे ही निबन्धोंका प्रचार है। हमने यह भी देखा है कि किसी प्रतिपाद्य सिद्धान्तके विरुद्ध जितने प्रमाण हो सकते थे, उनको एक एक करके उठाना और उनकी समीक्षा करते हुए अपने सिद्धान्तपर पहुँचना, यही पुराने निबन्धोंका कार्य था। परन्तु नये युगमें जिन नवीन ढंगके निबन्धोंका प्रचलन हुआ है वे 'तर्कमूलक' की अपेक्षा 'व्यक्तिगत' अधिक हैं। ये व्यक्तिकी स्वाधीन चिन्ताकी उपज हैं। जो निबन्ध किसी तत्त्ववादके विचारके लिये लिखे जाते हैं उनमें थोड़ा बहुत प्राचीन ढंग अब भी पाया जाता है। साधारणतः जिन निबन्धोंमें निस्संग विचारका प्राधान्य होता है वे साहित्यिक आलोचनाके प्रसंगमें आलोचित नहीं होते।

निबन्धोंकी नाना कोटियाँ हैं। उनको साधारणतः पाँच श्रेणियोंमें बाँटा जा सकता है—(१) वार्तालाप-मूलक (२) व्याख्यान-मूलक, (३) अनियंत्रित गप्प-मूलक (४) स्वगत-चिंतन-मूलक (५) कलह-मूलक।

(१) 'वार्तालाप-मूलक' निबंधका लेखक मन-ही-मन एक ऐसे वातावरणकी कल्पना करता है, जिसमें कुछ सच्चे जिज्ञासु लोग किसी तत्त्वका निर्णय करने बैठे हैं और अपने अपने विचार सत्य-निर्णयकी

आशासे सहजभावसे प्रकट करते जाते हैं। (२) परन्तु 'व्याख्यान-मूलक' निबंध-लेखक व्याख्यान देता रहता है। वह अपनी युक्तियों और तर्कोंको बिना इस बातकी परवा किये उपस्थित करता जाता है कि कोई उसे टोक देगा। (३) 'अनियंत्रित गप्प' मारते समय गप्प करनेवाला हल्के मनसे बातें करता है, वह अपने विषयके उन सरस और हास्योद्रेचक पहलुओंपर बराबर घूम-फिरकर आता रहता है, जो उसके श्रोताके चित्तको प्रफुल्लित कर देंगे। (४) 'स्वगत-चिंतन-मूलक' लेखक अपने आपसे ही बात करता रहता है। उसके मनमें जो युक्तियाँ उठती रहती हैं, उन्हें तन्मय होकर वह विचारता जाता है। पर पक्षकी आशंका उसे नहीं रहती। (५) परन्तु 'कलह-मूलक' निबंधका लेखक अपने सामने मानो एक प्रतिपक्षीको रखकर उससे उत्तेजनापूर्ण बहस करता रहता है, प्रतिपक्षीकी युक्तियोंका निरास करना उसका उतना लक्ष्य नहीं होता जितना अपने मतको उत्तेजित होकर व्यक्त करना। इस अंतिम श्रेणीके निबंधोंमें कभी कभी अच्छी साहित्यिक रचना मिल जाती है, पर साधारणतः ये साहित्यकी श्रेणीके बाहर जा पड़ते हैं।

निबंधोंके व्यक्तिगत होनेका अर्थ यह नहीं है कि उनमें विचार-शृंखला न हो। ऐसा होनेसे तो वे 'प्रलाप' कहे जायँगे। संसारमें हम जो कुछ देखते हैं वह द्रष्टाकी विभिन्नताके कारण नाना भावसे प्रकट होता है। अपनी रुचि और संस्कारके कारण किसी द्रष्टाका ध्यान वस्तुके एक पहलूपर जाता है तो दूसरे द्रष्टाका दूसरे पहलूपर। फिर वस्तुओंके जो पारस्परिक संबंध है वे इतने तरहके हैं कि इन संबंधोंमेंसे सब सबकी दृष्टिमें नहीं पड़ते। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति यदि ईमानदारीसे अपने विचारोंको व्यक्त कर ले तो हमें नवीनका परिचय-मूलक आनंद मिल

सकता है और साथ ही उस उद्देश्यकी सिद्धि भी हो सकती है जो साहित्यका चरम प्रतिपाद्य है।

दृष्टाके भेदसे दृश्यका अभिनव रूप हमें दूसरेके हृदयमें प्रवेश करनेकी क्षमता देता है और हम केवल अपने व्यक्तिगत रुचि-अरुचिके संकीर्ण दायरेसे निकलकर दूसरोंकी अनुभूतियोंके प्रति संवेदनशील होते हैं। वस्तुतः जो निबंध इस उद्देश्यकी ओर उन्मुख करे वही साहित्यिक निबंध कहे जानेका अधिकारी है। जो लेख हमारे हृदयकी अनुभूतियोंको व्यापक, और संवेदनाओंको तीक्ष्ण नहीं बनाता, वह अपने उद्देश्यसे च्युत हो जाता है।

इस व्यक्तिगत अनुभूतिके कारण ही साहित्यिक निबंध-लेखक निःसंग तत्त्वचिंतकसे भिन्न हो जाता है। "तत्त्वचिंतक या वैज्ञानिकसे निबंध-लेखककी भिन्नता इस बातमें भी है कि निबंध-लेखक जिधर चलता है उधर संपूर्ण मानसिक सत्ताके साथ अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिये हुए। जो करुण प्रकृतिके हैं उनका मन किसी बातको लेकर, अर्थ-संबंध-सूत्र पकड़े हुए, करुणस्थलोंकी ओर झुकता और गंभीर वेदनाका अनुभव करता चलता है; जो विनोदशील हैं उनकी दृष्टि उसी बातको लेकर उसके ऐसे पक्षोंकी ओर दौड़ती है, जिन्हें सामने पाकर कोई हँसे बिना नहीं रह सकता। पर सब अवस्थाओंमें कोई एक बात अवश्य चाहिये। इस अर्थगत विशेषताके आधारपर ही भाषा और अभिव्यंजना-प्रणालीकी विशेषता—शैलीकी विशेषता—खड़ी हो सकती है। जहाँ नाना अर्थ-संबंधोंका वैचित्र्य नहीं, जहाँ गतिशील अर्थकी परंपरा नहीं, वहाँ एक ही स्थानपर खड़ी खड़ी तरह-तरहकी मुद्रा और उछल-कूद दिखाती हुई भाषा केवल तमाशा करती हुई जान पड़ेगी।"

—(रामचंद्र शुक्ल)

चूँकि व्यक्तिगत रुचि और संस्कार अनंत प्रकारके हैं और भिन्न वस्तुके अर्थ-सम्बन्ध भी, जो इन रुचियों और संस्कारोंको प्रभावित करते हैं, अनंत प्रकारके हैं, इसलिये व्यक्तिगत अनुभूति-मूलक निबन्धोंकी केवल मोटी मोटी श्रेणियाँ ही बताई जा सकती हैं। इस क्षेत्रमें अनुकरग नहीं चल सकता, क्योंकि कोई भी दो व्यक्ति हू-ब-हू एक ही रुचि और एक ही संस्कारके नहीं होते। यही कारण है कि भिन्न भिन्न भाषाओंमें ऐसे ऐसे निबन्ध-लेखक है जिनकी समानता दूसरी भाषाओंमें खोजी नहीं जा सकती। ये आधुनिक युगके अत्यन्त सजीव साहित्यांग हैं। उनमें नित्य नवीन तत्त्वोंका समावेश और परिहार होता जा रहा है। निबन्ध-लेखक भी वस्तुतः एक समालोचक ही है। उसकी समालोचना पुस्तकोंकी नहीं होती, बल्कि उन वस्तुओंकी होती है जो पुस्तकोंका विषय है।

संक्षेपमें हम इस प्रकार कह सकते है कि वस्तुको चाहे वह साहित्यिक ग्रंथ हो या अन्य पदार्थ—देखनेके दो रास्ते हैं:—निर्वैयक्तिक या अनासक्त रूपमें और वैयक्तिक या आसक्त रूपमें। दूसरा रास्ता अनुभव करनेका है, पर उसे प्रथमसे विच्छिन्नकर देनेपर दूसरोंतक उसे नहीं पहुँचाया जा सकता। विश्लेषण और सामान्यीकरणका रास्ता वैज्ञानिक रास्ता है। तत्त्व-निर्णयके लिये हमे इस रास्तेको अपनाना ही पड़ेगा। परंतु साहित्य केवल तत्त्व-निर्णयसे ही संतुष्ट नहीं होता, वह कुछ नया निर्माण भी करना चाहता है। कोई भी व्यक्ति केवल भावावेगोंका गट्ठर नहीं होता, वह वस्तुको देखते समय यथाशक्य निस्संग बुद्धिसे उसका यथार्थ निर्णय भी करना है। इसलिये वैयक्तिक या आसक्त भावसे देखना वैज्ञानिकके देखनेकी क्रियाका विरोधी नहीं है, बल्कि उसीका भावावेगोंसे सना हुआ कार्य है।

इस प्रकार विश्लेषणके द्वारा समालोचक आलोच्य वस्तुके उपादानोंको समझ सकता है। पर विश्लेषण जितना भी उत्तम हो उससे वस्तुका समग्र सत्य नहीं प्रकट होता। हमें साहित्यकी उपादेयताकी परीक्षाके लिये अपने पूर्ववर्ती सिद्धांतपर दृढ रहना चाहिये। जो साहित्य हमारी क्षुद्र संकीर्णताओंसे हमें ऊपर उठा ले जाय और सामान्य मनुष्यताके साथ एक कराके अनुभव करावे वही उपादेय है। उसके भाव-पक्षके लिये किसी देश-विशेष या कालविशेषकी नैतिक आचार-परम्पराका मुँह जोहना आवश्यक नहीं है। हमें दृढतासे केवल एक बातपर अटल रहना चाहिये, और वह यह कि जिसे काव्य, नाटक या उपन्यास-साहित्य कहकर हमें दिया जा रहा है वह हमें हमारी पशु-सामान्य मनोवृत्तियोंसे ऊपर, उठाकर समस्त जगत्के दुःख-सुखको समझनेकी सहानुभूतिमय दृष्टि देता है या नहीं; हमें 'एक' की अनुभूतिमें सहायता पहुँचा रहा है या नहीं। जो भी साहित्य इसके बाहर पड़े, अर्थात् हमारी पशु-सामान्य वृत्तियोंको बड़ी करके दिखावे, हमें स्वार्थी और खंड-विच्छिन्न बनावे, उसे हम साहित्य नहीं कह सकते, चाहे जितने बड़े साहित्यिक दल या संप्रदायका समर्थन उसे प्राप्त हो। इस विषयमें हमें साहित्यिक सिद्धांत-पर दृढ रहना चाहिये।

साहित्यिक सिद्धांतोंकी दृढता क्या है? प्राचीन पंडितोंकी पोथियोंमें जब किसी नई काव्य-परिभाषाकी स्थापना करनी होती है तो उसके पूर्व और उत्तर पक्षकी कल्पना करके बहस की जाती है। पूर्व पक्षमें यह प्रश्न उठाया जाता है कि अगर इस परिभाषाको मान लेंगे तो पुराने कवियोंकी लिखी हुई बहुत-सी कवितायें इसके बाहर पड़ जायँगी और काव्य नहीं कहा जा सकेगा। उदाहरणार्थ:—

यदि काव्यका लक्षण यह हो कि 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है' तो ऐसी बहुत-सी कविताएँ जैसे चित्रकाव्य, अलंकार-बहुल पद्य आदि इस परिभाषाके बाहर पड़ जायँगी; फिर इनको कविता नहीं कहा जा सकेगा। इसके उत्तरमें कहलाया जाता है, 'तुमने तो हमारा अभीष्ट ही कह दिया, यही तो हम चाहते थे।' शास्त्रकी भाषामें इसीको 'इष्टापत्ति' कहते हैं। फिर प्रश्न होता है कि 'तुम ऐसा कैसा कह सकते हो? तुम्हारी यह इष्टापत्ति असंगत है, क्योंकि ऐसा करनेसे शिष्ट-संप्रदायका विरोध होगा।' प्रायः ही इस प्रश्नके साथ समझौता करनेके लिये उन नीरस बातोंको भी निचली श्रेणीकी कविता मान लिया जाता है।

परंतु आजके जमानेमें हमें अपने सिद्धांतपर दृढ़ताके साथ जमे रहनेकी जरूरत है। आजकल प्राचीन कवि-संप्रदाय (शिष्ट-सम्प्रदाय) के विरोधका तो डर नहीं रह गया है, पर छापेकी मशीनने जो अत्यधिक साहित्यिक उत्पादन करना शुरू किया है उसके फलस्वरूप नित्य नये-नये 'शिष्ट-संप्रदाय' पैदा होते जाते हैं और होते रहेंगे। डर इन्हीका है। हमें दृढ़ताके साथ मानना चाहिये कि भाव और शैली आदिमें कितने भी परिवर्तन क्यों न होते रहें, जो साहित्य हमें एकत्वकी अनुभूतिकी ओर उन्मुख करेगा, हमें पशु-सामान्य मनोवृत्तियोंसे ऊपर उठाकर प्रेम और मंगलमय मनुष्य-धर्ममें प्रतिष्ठित करेगा वही वस्तुतः साहित्य कहलानेका अधिकारी होगा।

नाटक

महाकाव्य, नाटक और उपन्यास,—तीनोंकी रचना मनुष्य-चरित्रको लेकर होती है। किन्तु इन तीनोंमें परस्पर बहुत भेद है।

महाकाव्य एक या एकसे अधिक चरित्र लेकर रचे जाते हैं। लेकिन महाकाव्यमें चरित्र-चित्रण प्रसंग-मात्र है। कविका मुख्य उद्देश्य होता है उस प्रसंगक्रममें कवित्व दिखाना। महाकाव्योंमें वर्णन ही (जैसे प्रकृतिका वर्णन, घटनाओंका वर्णन, मनुष्यकी प्रवृत्तियोंका वर्णन) कविका प्रधान लक्ष्य होता है, चरित्र उपलक्ष्य-मात्र होते है, जैसे रघुवंशमें। रघुवंशमें यद्यपि कविने प्रसंगवश चरित्रोंकी अवतारणा की है, परन्तु, उनका प्रधान उद्देश्य 'कुछ वर्णन करना' है। अजके विलापमें इन्दुमतीकी मृत्यु उपलक्ष्य मात्र है। क्योंकि वह विलाप जैसे अजके सम्बन्धमें है वैसे ही अन्य किसी भी प्रेमी पतिके सम्बन्धमें हो सकता है। वहाँ कविका उद्देश्य चरित्रकी कोई विशेषता न रखकर प्रियजनके वियोगमें शोकका वर्णन करना और वर्णनमें अपनी कवित्व-शक्ति दिखाना है।

उपन्यासमें कई चरित्र लेकर एक मनोहर कहानीकी रचना ही ग्रन्थ-कारका मुख्य उद्देश्य होता है। उपन्यासका मनोहर होना उस कहानीकी विचित्रताके ऊपर ही प्रधान रूपसे निर्भर होता है।

नाटक काव्य और उपन्यासके बीचकी चीज है। उसमें कवित्व भी चाहिए, और कहानीकी मनोहरता भी चाहिए। इसके सिवा उसके कुछ बँधे हुए नियम भी हैं।

पहले तो, नाटकमें कथाभागका ऐक्य (Unity of Plot) चाहिए। एक नाटकमें केवल एक ही विषय प्रधान वर्णनीय होता है, अन्यान्य घटनाओंका उद्देश्य केवल उस विषयको प्रस्फुटित करना होता है। उदाहरणके तौरपर कहा जा सकता है कि उपन्यासकी गति आकाशमें दौड़ते हुए छोटे छोटे मेघ-खण्डोंकी-सी एक ही ओरको होती है, लेकिन एक दूसरेके अधीन नहीं होती। नाटककी गति नदीके प्रवाहके ऐसी होती है,—अन्यान्य उपनदियाँ उसमें आकर मिलती हैं, और उसे परिपुष्ट करती हैं। अथवा उपन्यासका आकार एक शाखाके समान होता है,—चारों तरफ नाना शाखा-प्रशाखायें हैं और वहीं उनकी विभिन्न परिणति हो जाती है, किन्तु, नाटकका आकार मधु-चक्रके (=ममाखीके) छत्तेके ऐसा होता है जिसे एक स्थानसे निकलकर, फिर विस्तृत होकर, अन्तको एक ही स्थानमें समाप्त होना चाहिए। नाटकका मुख्य विषय प्रेम हो तो उस नाटकको प्रेमके परिणाममें ही समाप्त करना होगा जैसे 'रोमियो जूलियट'। मुख्य विषय लोभ हो, तो लोभके परिणाममें ही नाटक समाप्त करना होगा। नाटकका विषय उच्चाशय हो तो उसके परिणाममें ही नाटककी परिणति होगी जैसे, 'जूलियस सीज़र।' नाटकका आरंभ प्रतिहिंसासे हो तो अंतको प्रतिहिंसाका ही फल दिखाना होगा, जैसे 'हैम्लेट।'

इसके सिवा नाटकका और एक नियम है;—महाकाव्य या उपन्यासका वैसा कोई बँधा हुआ नियम नहीं है—वह यह कि नाटकमें प्रत्येक घटनाकी सार्थकता चाहिए। नाटकके भीतर अवान्तर विषय लाकर नहीं रक्खे जा सकते,—सभी घटनाओं या सभी विषयोंको नाटककी मुख्य घटनाके अनुकूल होना चाहिए। नाटकमें ऐसी कोई घटना या दृश्य नहीं होगा जिसके न रहनेपर भी नाटकका परिणाम वैसा ही दिखाया जा सकता

हो। नाटककार अपने नाटकमें जितनी ही अधिक घटनाओंका समावेश कर सकता है उतनी ही अधिक उसकी क्षमता प्रकट हो सकती है और आख्यान-भाग भी उतना ही मिश्र हो सकता है, लेकिन, उन सब घटनाओंकी मूल दृष्टि घटनाकी ओर ही होनी चाहिए; वे या तो मूल घटनाको आगे बढ़ा दें या पीछे हटा दें। तभी वह नाटक होगा, अन्यथा नहीं। उपन्यासमें इस तरहका कोई नियम नहीं है। महाकाव्यमें भी घटनाओंकी एकाग्रता या सार्थकताका कुछ प्रयोजन नहीं है।

कवित्व नाटकका एक अंग है, परन्तु उपन्यासमें कवित्व न रहनेसे भी काम चल सकता है। नाटकमें चरित्र-चित्रणका होना आवश्यक है, पर काव्यमें चरित्र-चित्रण न होनेसे भी काम चल सकता है।

नाटकका और एक प्रधान नियम है जो नाटकको काव्य और उपन्यास दोनोंसे अलग करता है, वह यह कि नाटकका कथा-भाग घटनाओंके घात-प्रतिघातसे अग्रसर होता है। नाटकका मुख्य चरित्र कभी सरल रेखामें नहीं जाता। जीवन एक ओर जा रहा था, ऐसे ही समय धक्का लगकर उसकी गति दूसरी ओर फिर गई, उसके बाद फिर धक्का खाकर उसको दूसरी ओर फिरना पड़ा,—नाटकमें यही दिखाना होता है। उपन्यास अथवा महाकाव्यमें इसका कुछ प्रयोजन नहीं। यह बात अवश्य ही होती है कि हर एक मनुष्यका जीवन, वह चाहे जितना सामान्य क्यों न हो, किसी ओरसे कुछ न कुछ धक्का पाता ही है। किसी भी मनुष्यका जीवन एकदम सरल रेखामें नहीं जाता। एक आदमी खूब अच्छी तरह लिख-पढ़ रहा था, सहसा पिताकी मृत्यु हो गई, उसे लिखना पढ़ना छोड़ देना पड़ा। किसीने ब्याह किया, उसके कई बच्चे हो गये, और तब अर्थ-कष्टके कारण नौकरी या दास-वृत्ति स्वीकार कर लेनी पड़ी।—प्रायः प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें इस तरहकी घटना-परंपरायें देख

पड़ती हैं। इसी कारण किसी भी व्यक्तिके जीवनका इतिहास लिखा जायगा तो वह अवश्य ही कुछ न कुछ नाटकका आकार धारण करेगा। किन्तु यथार्थ नाटकमें ये घटनायें जरा जोरदार होनी चाहिए। धक्का जितना अधिक और प्रबल होगा उतना ही वह नाटकके लिए उपयुक्त उपकरण होगा।

कमसे कम ऐसा दिखाना चाहिए कि नाटकके सब प्रधान चरित्र बाधाको नाँघ रहे हैं। जिसमें केन्द्रीय चरित्र बाधाको नाँघता है, उस नाटकको अँगरेजीमें कॉमिडी कहते हैं। बाधा नाँघते ही नाटककी समाप्ति हो जाती है। जैसे दो जनोंका विवाह अगर किसी भी नाटकका मुख्य विषय हो तो, जब तक अनेक प्रकारके विघ्न आकर उनके विवाहको सम्पन्न नहीं होने देते तभी तक वह नाटक चलता रहता है। इसके बाद ज्यों ही विवाह-कार्य सम्पन्न हुआ कि यवनिका-पतन हो जायगा।

अन्तमें, ऐसा भी हो सकता है कि बाधा न भी नाँघी जा सके,—बाधा नाँघनेके पहले ही जीवनकी या घटनाकी समाप्ति हो जाय और दुःख दुःख ही रह जाय। ऐसे स्थलमें, अँगरेजीमें जिसे ट्रेजिडी कहते हैं उसकी सृष्टि होती है। जैसे, ऊपर कहे गये उदाहरणमें मान लीजिए, अगर नायक या नायिकाकी, अथवा दोनोंकी, मृत्यु हो जाय या एक अथवा दोनों निरुद्देश्य हो जायँ। उसके बाद और कुछ कहनेको नहीं रह जाता। उस दिशामें वहीं यवनिका-पतन हो जायगा।

मतलब यह कि सुखकी और दुःखकी बाधा और शक्तिके, चरित्र और बहिर्घटनाके, संघर्षसे नाटकका जन्म है। उसमें युद्ध चाहिए,—वह चाहे बाहरकी घटनाओंके साथ हो और चाहे भीतरकी प्रवृत्तियोंके साथ हो।

जिस नाटकमें अन्तर्द्वन्द्व दिखाया जाता है वही नाटक उच्च श्रेणीका होता है जैसे 'हैम्लेट' अथवा 'किंग लियर'। बहिर्घटनाओंके साथ युद्ध दिखाना अपेक्षाकृत निम्न श्रेणीके नाटककी सामग्री है। ऐसे नाटक हैं 'उथेलो' या 'मैकबेथ'। उथेलोको इयागोने समझाया कि तेरी स्त्री भ्रष्टा है। वह मूर्ख वही समझ गया। उसके मनमें तनिक भी दुविधा नहीं आई। 'उथेलो' नाटकमें केवल एक जगहपर उथेलोके मनमें दुविधा आई है। वह दुविधा स्त्री-हत्याके दृश्यमें देख पड़ती है। वहाँपर भी युद्ध प्रेम और ईर्षामें नहीं है, रूप-मोह और ईर्षामें हैं। मैकबेथमें जो कुछ दुविधा है, वह इस दुविधाकी अपेक्षा कहीं ऊँचे दर्जेकी है। डंकनकी हत्या करनेके पहले मैकबेथके हृदयमें जो युद्ध हुआ था वह धर्म और अधर्ममें,—आतिथ्य और लोभमें, हुआ था। परंतु, 'किंग-लियर' का युद्ध और तरहका है, वह युद्ध ज्ञान और अज्ञानमें, विश्वास और स्नेहमें, अक्षमता और प्रवृत्तिमें है। हैम्लेटके मनमें जो युद्ध है वह आलस्य और इच्छामें,—प्रतिहिंसा और सन्देहमें है। यह युद्ध नाटकके आरम्भसे लेकर अन्ततक होता रहा है।

यह भीतरी युद्ध सभी महा नाटकोंमें है। कोई भी कवि प्रवृत्ति और प्रवृत्तिके संघातमें लहर उठा सके बिना, विपरीत वायुके संघातसे प्रचण्ड बवंडर उठा सके विना, चमत्कारयुक्त नाटककी सृष्टि नहीं कर सकता है। अन्तर्विरोधके रहे विना उच्च श्रेणीका नाटक बन ही नहीं सकता।

बाहरके युद्धसे नाटकका विशेष उत्कर्ष नहीं होता। उसे तो ऐरे गैरे सभी नाटककार दिखा सकते हैं। जिस नाटकमें बाहरके युद्धको उपलक्ष्य-मात्र रखकर मनुष्यकी प्रवृत्तियोंका विकास दिखाया जाता है, वह नाटक अवश्य हो सकता है, परन्तु, उच्च श्रेणीका नहीं। जो नाटक प्रवृत्तियोंका युद्ध दिखाना है वही उच्च श्रेणीका नाटक है।

उच्च श्रेणीके नाटकमें प्रवृत्ति-समूहका सामंजस्य अधिक परिमाणमें रहता है। जैसे साहस, अध्यवसाय, प्रत्युपन्नमतित्व इत्यादि गुणोंका समवाय,—अथवा द्वेष, जिघांसा, लोभ इत्यादि वृत्ति-समूहका समवाय, एक चरित्रमें रह सकता है।

अनुकूल वृत्ति-समूहके सामंजस्यकी रक्षा करके नाटक लिखना कठिन नहीं है। उसमें मनुष्य-हृदयके संबंधमें नाटककारके ज्ञानका भी विशेष परिचय नहीं प्राप्त होता। आदर्श-चरित्रके सिवा प्रत्येक मनुष्य-चरित्र दोष और गुणसे गठित होता है। दोषोंको निकाल कर केवल गुण ही गुण दिखानेसे अथवा गुणोंको छोड़कर दोष ही दोष दिखानेसे एक सम्पूर्ण मनुष्य-चरित्र नहीं दिखाया जा सकता। जो नाटककार एक आदर्श-चरित्र चित्रित करनेको बैठा हो; उसकी बात जुदी है। क्योंकि, वह देव-चरित्र मनुष्यका चरित्र कैसा होना चाहिए, यही दिखाने बैठा है। वास्तवमें वह नाटकके आकारमें धर्मका प्रचार करने बैठा हैं। मैं तो ऐसे ग्रंथोंको नाटक ही नहीं कहता हूँ—धर्मग्रंथ कहता हूँ। ऐसा कवि जितने प्रकारके भी गुण हो सकते हैं उन सबको एकत्र एक नाटकमें जितना दिखा सकता है, उतनी ही उसकी प्रशंसा है; किन्तु उससे मनुष्य-चरित्रका चित्र नहीं अंकित होता।

विपरीत वृत्ति-समूहका समवाय दिखाना अपेक्षाकृत कठिन कार्य है। इसी जगह नाटककारका कृतित्व अधिक है। जो नाटककार मनुष्यके अन्तर्जगतको खोलकर दिखा सकता है वही यथार्थमें सच्चा दार्शनिक कवि है। बल और दुर्बलताके, जिज्ञासा और करुणाके, ज्ञान और विज्ञानके, गर्व और नम्रताके, क्रोध और संयमके, पाप और पुण्यके समावेशमें ही यथार्थ उच्च श्रेणीका नाटक होता है। इसीको मैं अन्तर्विरोध कहता हूँ। मनुष्यको एक शक्ति धक्का देती है, और दूसरी एक शक्ति उसे पकड़कर रोके रखती

है। घुड़सवारकी तरह कवि एक हाथसे चाबुक मारता है और दूसरे हाथसे रास पकड़े खींचे रहता है। ऐसे कवि ही महादार्शनिक कवि कहलाते हैं।

नाटकमें एक गुण और रहना चाहिए। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या महाकाव्य,—कोई भी प्रकृतिका अतिक्रमण नहीं कर सकता। वास्तवमें सभी सुकुमार कलायें प्रकृतिकी अनुगामिनी होती हैं। कविको अधिकार है कि वह प्रकृतिको सजावे या रंजित करे। किन्तु उसे प्रकृतिकी उपेक्षा करनेका अधिकार नहीं है।

हिन्दी कवितामें प्रकृति-चित्रण

सृष्टिके आरम्भसे ही मानव-समाजका प्रकृतिसे गहरा सम्बन्ध रहा है। डारविनके विकासवादके सिद्धान्तको यदि हम न भी मानें, तब भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि अपनी आदिम अवस्थामें मनुष्य बहुत कुछ अंशोंमें जङ्गली जैसा था। प्रकृतिके खुले मैदानमें रहना और सीधे प्राकृतिक उपादानोंसे ही अपनी खाद्य-सामग्री ग्रहण करना उसने जाना था। प्रकृतिसे उसका सम्पर्क बहुत निकट था। वह उससे घिरा हुआ था। लेकिन वन, पर्वत, कन्दराओं, उपत्यकाओंद्वारा जहाँ वह पोषित तथा रक्षित था, वहीं ज्वालामुखीके विस्फोट, दावाग्नि, घनघोर वृष्टि द्वारा भक्षित भी। बड़ी-बड़ी नदियाँ न केवल अपने उभय कूलोंको प्लावित कर कृषिके योग्य जमीन तैयार करती थीं, अपि तु अपनी सबल धारासे सैकड़ों बस्तियोंका संहार भी कर देती थीं। प्रकृतिके प्रकोपसे बचनेके लिए तब आजकी तरह सुलभ साधन तो थे नहीं, इसलिए आदिम मानवके हृदयमें प्राकृतिक उपादानोंके प्रति पूजाकी आस्था थी और भयका भाव भी। संभव है, भय ही पूजाका कारण हो। और उसने इनके एक एक कल्पित देवता मान कर अर्चना आरम्भ कर दी। प्रकाश, अन्धकार, हवा, आग और पानीके लिए मित्र, वरुण, सूर्य, पवन, अग्नि, सविता, पूषण, इन्द्र आदिकी कल्पना उसी युगकी याद दिलाती है। स्मरण रहे, ये देवता उस आदि वैदिक कालके हैं जब त्रिदेवता (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की भी उत्पत्ति नहीं हुई थी।

यह नहीं कि प्रकृतिकी उपयोगिताने ही केवल मानव मनको प्रभावित किया था। निश्चय ही उसके सौन्दर्यने भी उसे आकृष्ट

किया होगा। प्रकृतिके रमणीय दृश्य, ऊषाकी स्निग्ध छटा, सान्ध्यकालीन समुद्र-तटपर समीरकी मन्थर गति, पावसके इन्द्रधनुषका सतरङ्गा आलोक सदासे मनुष्यके हृदयमें उल्लासका स्रोत बहाते रहे हैं। ऋग्वेदकी—

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः।
प्रबोधमन्त्यरुणेभिरश्वैरुषाऽऽभाति सुभुजा रथेन।

जैसी सौन्दर्यानुभूतिपरक पंक्तियोंको निरे उपयोगितावादकी कसोटी-पर कसना उनके साथ अन्याय करना होगा। प्रगतिशील शब्दोंमें ही कहें तो मानव-तनकी भूख ही सब कुछ नहीं। उस जमानेमें भी मनकी भूख उतनी ही बलवती होगी, जितनी आज है। इन्हीं कारणोंसे प्रकृतिने मनुष्यके जीवनमें अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान बिना लिया और जब उसको भावनाएँ हृदयकी कारा तोड़ कर बाहर निकलीं, विचारोंने वाणी पाई, अनायास ही प्रकृतिके चित्रोंका उसमें समावेश हो गया। वाल्मीकि या हिन्दीके ही आदि कवियोंने प्रकृतिका चित्रण इसी रूपमें किया है। प्राकृतिक दृश्योंके निरीक्षणसे उनके मनमें जो आनन्द उत्पन्न हुआ, उसको उन्होंने जैसा-का-तैसा वर्णित कर दिया है। अपनी ओरसे उसमें कुछ नहीं मिलाया। संस्कृतवालोंको छोड़ दें तो हिन्दीके सिद्ध और वीर-गाथा कालोंमें भी इसके अनेक उदाहरण मिल जायँगे।

किन्तु सभ्यताके विकासके साथ ही मानवके भावोंमें भिन्नता आती गई। उसने क्रमशः जटिल बना दिया मानव-मस्तिष्कको। अब उसमें सरोवरके शान्त जल जैसी स्वच्छन्दता, स्थिरता न रह गई। वह प्रकृतिमें अपने हृदय-गत भावोंका विश्लेषण खोजने और देखने लगा। प्रेममार्गी भक्ति-शाखाके कवियोंको प्रकृति अपने सुखोंके साथ हँसती और दुखोंके साथ रोती दिखलाई देती थी। जायसीके पद्मावतमें सारी प्रकृतिका पुरुषसे समा-

गमके हेतु शृङ्गार, उत्कण्ठा या विरह-विकलताका चित्रण है। कुछ बादकी कवितामें ऐसे ही वर्णनोंका आधिक्य है, मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघातोंका साम्राज्य है।

और आगे बढ़नेपर प्रकृतिसे पृष्ठभूमि तथा उद्दीपनका काम लिया गया मिलेगा। किसी घटनाका पूर्वाभास या उसके बादकी अवस्था दिखलानेके लिए भी प्रकृतिकी आवश्यकता होती है। शृगाल या उल्लूका अपशकुनके लिए बहुधा प्रयोग होता है। बेरका वृक्ष अशुभ माना जाता है, सहकार शुभ। दृश्योंकी इस प्रकारकी मनोवैज्ञानिक योजनाद्वारा प्रभाव और प्रेषणीयतामें बहुत वृद्धि हो जाती है। राम-वन-गमनके समय अयोध्यामें शोकका व्यापक प्रसार हो गया था। तुलसीने वहाँ प्रकृतिको भी रोता हुआ चित्रित किया है। क्या जड़ क्या चेतन उस समय सभी रामके वियोगमें विलाप करते हैं। सूरने भी कृष्णके व्रज छोड़ते समय कुछ ऐसी ही दशा दिखलाई है। यहाँ तक आते-न-आते प्रकृतिका निजी महत्त्व बहुत कुछ कम हो जाता है एवं उसकी स्वतन्त्र-सत्ता समाप्त होने लगती है। उसके सारे क्रिया-कलाप अपने न रहकर मानव-मस्तिष्कके अधीन हो जाते हैं।

चौथे प्रकारके प्रकृति-चित्रणमें प्रकृतिके नाना रूपोंका प्रयोग केवल उपमा या उदाहरणके लिए होता है। इस कोटिकी कवितायें हिन्दीमें सबसे अधिक मात्रामें मिलती हैं। कहनेको तो इस शैलीकी उद्भावना वीरगाथा-कालमें ही हो चुकी थी, क्योंकि 'पृथ्वीराज रासो' में

चन्द्-बदन चरन-कमल भौंह जनु भ्रमर गन्ध रत,
कीर नास बिंबोष्ठ दसन ज्यों दामिनी दमकत।
भुज-मृणाल कुच-कोक सिंह-लंकी गति वारुन,
कनक कान्ति दुति देह जंघ कदलीदल आरुन॥

अलसंग नयन भयनं मुदित, रुदित अनंगह अंग तिहि।
आनी सुमन्त आरम्भ वर, भूलत देखत देह जिहि॥

जैसी पंक्तियाँ मिलती हैं, पर रीति-कालवालोंने तो इस दिशामें कमाल ही कर दिया। जहाँ कहीं नायक या नायिकाकी सुन्दरताका वर्णन करना हुआ, बस लीजिए, उपमानोंकी झड़ी लगा दी गई, जैसे वर्णित व्यक्तिके अंग अपनेमें कोई महत्त्व ही न रखते हों। 'मुख-कमल' और 'मुख-चन्द्र' का रूपक कविताके आदिकालसे चला आ रहा है। तुलसीदास तक इस परंपराका मोह न छोड़ सके। एक ही पंक्तिमें एक उपमान चार-चार उपमेयोंके साथ लाया गया है—

नवकंज-लोचन कंज-मुख कर-कंज पद-कंजारुणम्

और रीतिकालका तो कहना ही क्या! आँखोंके लिए कमल, नाकके लिए शुक, दाँतोंके लिए कुन्दकली, बाँहोंके लिए मृणाल, जाँघोंके लिए कदली-स्तंभ, वेणीके लिए सर्प, चालके लिए गज—तात्पर्य यह कि हर अंगके लिए प्रकृतिसे उन लोगोंने उपमान ग्रहण किए। इनका प्रचलन इतना बढ़ा कि उपमाओंकी लड़ी-सी लगा दी गई। अतएव आज भी अलङ्कारोंमें उपमाका स्थान सर्व-प्रथम है। रीतिकालीन कवितामें इसके उदाहरण पग-पग पर पड़े मिलेंगे। ऐसी बाढ़ है कि उपयुक्तता-अनुपयुक्तताका ध्यान भी बह-सा गया है। श्रीपति कवि कहते है—

गोरी गरबीली तेरे गातकी गुराई आगे,
चपला-निकाई अति लागत सहल-सी।

इसे यदि केवल 'व्यतिरेक' अलङ्कारका उदाहरण माना जाय तब तो कोई बात नहीं, मगर जरा भी गौर करनेपर गातकी गुराईकी चपलाकी चमकसे उपमा देना अनुचित लगेगा। इसी तरह "नित-प्रति पूनों ही रहत आनन ओप उजास" में भी चमत्कार भले ही हो, कवित्वकी मात्रा नहींके बराबर है। फिर क्यों न

खिड़कीसे मत झाँकियो चंद्रबदनि अभिराम।
नहीं फेल कर जायगा ब्लैक आउट प्रोग्राम॥

को भी सत्कविताकी उपाधि दे दी जाय। रीतिकालीन कुछेक कवियोंने प्रकृतिसे उद्दीपन विभावका भी काम लिया है। कहीं तो ये विभाव इतने छा गए हैं कि केवल उन्हींसे रसकी निष्पत्ति भी मान ली जाती है। उदाहरणार्थ श्रृंगारका एक विभाव—

नभमें घनघोरसे स्याम घटा, अति जोर भरी घहरान लगी।
पिक, चातक, मोरनकी धुनि हू, चहुँ ओरन धूम मचान लगी॥
मलयानिल सीतल मन्द अली, मदनानलको धधकान लगी।
निरखै किन पीतम पाय परे, रहि है कबलौं अब मान-पगी?

बहुतसे कवि उपदेश देनेके लिए भी प्रकृतिका सहारा लेते हैं। उपदेश देने या दार्शनिक तत्त्वोंका समावेश करनेमें इस बातका सदा ध्यान रखना होता है कि कल्पना मनमाना काम न करने पाए। साधर्म्यका आरम्भ होना अनिवार्य है। तुलसीदासने वर्षा और शरद् ऋतुओंके वर्णनके साथ बहुत-से उपदेश दिए हैं। चित्रकूटकी पयस्विनी नदीका मानसमें वर्णन कविके मानसिक विचारोंका ही द्योतक है। दो-एक उदाहरण किष्किन्धा-काण्डसे—

दामिनि दमक रह न घनमाहीं। खलकै प्रीति जथा थिर नाहीं॥
बरखहिं जलद भूमि नियराए। जथा नवहिं बुध बिद्या पाए॥
बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे। खलके बचन सन्त सह जैसे॥
छुद्र नदी भरि चली तोराई। जस थोरेहु धन खल बौराई॥
पंक न रेनु सोह अस धरनी। नीति-निपुन नृपकै जसि करनी॥

प्राकृतिक उपादानोंको लेकर संस्कृत-हिन्दीमें बहुत-सी 'कवि-प्रसिद्धियाँ' चल पड़ी हैं। इनमेंसे अधिकांश वस्तु-जगतमें नहीं देखी जातीं, कुछ भव्यार्थके विपरीत होती हैं और कुछपर तो वास्तवमें हँसी आती है।

संस्कृतके आचार्योंने इनका बड़ा विशद विवेचन-विश्लेषण किया है। लेकिन हिन्दीमें ये सीधे संस्कृतसे ग्रहण कर ली गई हैं। वृक्षों पुष्पोंके सम्बन्धमें कुछ कवि-प्रसिद्धियाँ यों हैं—सुन्दरियोंके पटु-मृदु हास्यसे चम्पा, विक्षणमात्रसे तिलक, स्पर्शसे प्रियंगु, नर्मवाक्यसे मंदार, मुख-मदिरासे सिंचकर बकुल और सहकार, आलिंगनसे कुरबक, पदाघातसे अशोक और सामने नृत्य करनेसे कर्णिकार विकसित और पुष्पित होते हैं। इनमें कल्पनाको छूट कर उड़ान भरनेका अवसर दिया गया है। कुछ ऐसे 'कविसमय' है जो सूक्ष्म निरीक्षण-शक्तिके अभावमें चल पड़े हैं; जैसे अशोक, चन्दन, बेंत, आदिमें फल-फूल नहीं लगते, ऐसा माना जाता है। गोसाईंजीने स्पष्ट "फूलै फलै न बेंत, जदपि सुधा बरसहिं जलद" लिखा है। पर सत्यता इसके विपरीत है। कोकिलका केवल वसन्तमें बोलना और चकोरका अंगार खाना भी ऐसी ही भ्रान्तियाँ हैं। कवितामें प्रकृतिसे किनाराकशी ठीक नहीं, पर उसे इस प्रकार अनुचित ढङ्गसे भी न घसीटना चाहिए। आजके वैज्ञानिक युगमें इस तरहके वर्णन हास्यप्रद ही कहे जायेंगे। इसलिए अब इनका प्रचलन भी कम हो गया है। फिर भी ये रीति-कालके प्रकृति-चित्रणके एक महत्त्वपूर्ण अंश हैं, जहाँ इनमें आचार्योंने अपनी सारी कला खर्च कर दी है। उन्होंने प्रकृतिको दूरसे देखा है, उससे साहचर्य नहीं स्थापित किया।

आधुनिक युगके आरम्भके साथ ही प्रकृति-चित्रणके तरीके भी बदल जाते हैं। खड़ी बोलीके कवियोंने प्राकृतिक वस्तुओंको उपमान बना कर उनकी माला गूँथनेकी अपेक्षा उनका स्वतन्त्र चित्रण करना ही श्रेयस्कर समझा। प्रकृति, जो मनुष्यके चारों ओर आज भी अपनी राशि-राशि सुन्दरता बिखेरती हुई निष्प्रयास निष्प्रयोजन नहीं, बिखरी पड़ी है एकदम अस्तित्वहीन, स्पन्दनशून्य नहीं है। फिर क्यों उसे अचेतन-निष्प्राणकी

तरह चित्रित किया जाये, जब कि गत्यात्मकता आजके युगकी पहली शर्त है। फलतः नव युगके प्रकृति-चित्रणमें दो ही प्रकारके चित्र अधिक निकलेंगे चाहे केमरेसे लिया हुआ एक दृश्यका स्नैप या चल-चित्रोंकी रवानी, जिसमें जीवनकी गति हो। खड़ीबोलीकी कविताके प्रादुर्भाव-कालमें, जब गत्यात्मक चित्रोंकी ओर कलाकारोंका ध्यान नहीं गया था अथवा उन्हें शब्दोंमें उतारनेकी शक्ति उनके पास नहीं थी, उसकी स्टैटिक सुन्दरता, जो गतिशील न होकर भी सजीव थी, कविताका विषय बनी। भारतेन्दु, श्रीधर पाटक आदिमें हम वही पाते हैं। खड़ी बोलीके पहले महाकाव्य 'प्रियप्रवास' का आरंभ भी एक ऐसे ही वर्णनसे होता है।—

दिवसका अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला;
तरुशिखापर थी अब राजती कमलिनी-कुल-वल्लभकी प्रभा ॥

यह प्रकृतिका एक निष्कलुष चित्र है। इसमें अपनी ओरसे कवि-ने उसे न तो कुछ दिया है, न उसकी सजीवता ही हरण की है। गुप्तजीके काव्यमें भी ऐसे चित्रण प्रचुर मात्रामें मिलेंगे।

छायावादी युगने प्राकृतिक दृश्योंके चित्रणको एक नई दिशा दी है। छायावाद एक शब्दमें प्रकृति-काव्य है। उसमें प्रतीकवादी विधान अपनाया जाता है। उसकी अधिकाश लक्षणाएँ और व्यञ्जनाएँ प्रकृतिसे सम्बद्ध हैं। प्रकृतिकी सूक्ष्म भावनाओंके मूर्त्त लाक्षणिक रूपसे छायावादकी कविता अनुप्राणित हुई है। उसकी व्यञ्जनाओंमें प्रकृतिके मूक दृश्योंने वाणी पाई है, जिसके शब्दोंमें उसका संगीत मुखर हो उठा है। लहर, हिलोर, तरङ्ग, वीचि और उर्म्मिका अन्तर पहली बार छाया-वादने ही परखा; संध्याकी झुटपुट बेलामें, बाँसोंके झुरमुटमें, 'टी वी टुट टुटु' चहकती चिड़ियाकी ओर पहली बार उसीकी नजर

गई। प्रसादने प्रकृतिके वासनात्मक पहलूको अपनाकर उसपर गीत लिखे हैं। प्रकृतिसे जिस प्रकारका इन्द्रियग्राह्य सुख-दुःख उन्हें प्राप्त हुआ, उसे उन्होंने ज्योंका त्यों वर्णित किया है। विराटको सीमामें बाँधनेकी शक्ति उनमें ही थी। 'कामायनी' में प्रकृतिके विविध रूपोंके अनुपम चित्र उतारे गए हैं। जहाँ मिट्टीकी कठोर वस्तुवादी मान्यताओंसे पलायन कर प्रकृतिकी गोदमें उन्होंने शान्ति पाई है, वहीं उससे आगे बढ़ने, कर्म करनेकी प्रेरणा भी ली है।

पंत किसी समय प्रकृतिके कवि ही थे। हिन्दीको जितने अधिक प्राकृतिक चित्र उन्होंने दिये हैं, उतने शायद ही किसी दूसरे कविद्वारा मिले हों। पर पन्तकी सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह प्रसाद या महादेवीकी तरह तहमें नहीं पैठ सकते। उन्हें डूबनेका गम है और 'सतहकी चल जल माली' ही ज्यादा भाती है। यह उनकी अचेतन स्वीकारोक्ति है। इसलिए उनमें मुग्ध करनेकी शक्ति अधिक है; वह रुक कर कुछ देर सोचनेको बाध्य नहीं करते। कहीं-कहीं उन्होंने प्रकृतिको बहुत अधिक मूर्तिमान कर दिया है। एक उदाहरण—

कौन-कौन तुम परिहत-वसना म्लानमना भू-पतिता-सी ?
धूलि-धूसरा मुक्त-कुन्तला किसके चरणोंकी दासी ?
अहा ! अभागिनि हो तुम मुझ-सी सजनि, ध्यानमें अब आया,
तुम इस तरुकी छाया हो मैं उनके पदकी छाया !

इस प्रकारकी कविता समस्त रीति-युगमें एक भी नहीं मिलेगी। उस समय यह सम्भव ही न थी। बादकी कुछ प्रगतिवादी कविताओंमें पन्तने प्राकृतिक उपादानोंसे प्रतीकोंका काम लिया है। मेरा आशय 'द्रुत झरो जगतके जीर्ण पत्र,' 'गा कोकिल, बरसा पावक कण !' आदिसे है। 'स्वर्णकिरण' तथा 'स्वर्णधूलि' में अपराजिता भाषाके साथ चित्रमयी कल्पना पुनः निखर रही है।

निरालाके चित्रोंमें दार्शनिकताका अधिक समावेश हुआ है। निराला ध्वनिको बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। वह किसी बातको सीधी तरह न कहकर एक समाँ बाँध देते हैं, एक वातावरण उपस्थित कर देते हैं। उन्होंने अपनी पहलेकी कविताओंमें कुछ ऐसे क्षण प्रस्तुत किये हैं, जिनपर पाठक सहसा दो क्षण सोचनेको बाध्य हो जाता है। यही उनकी कलाकी सफलता है। 'तुलसीदास' में प्रकृति सदैव कुछ कहती-सी जान पड़ती है। एक दूसरा चित्र संध्याका कितना शांतिमय, कितना सजेस्टिव है, देखिए—

आता चल रवि, जल छल-छल छवि, स्तब्ध विश्व कवि, जीवन उन्मन।
मंद पवन बहती सुधि रह-रह, परिमलकी कह कथा पुरातन ॥

इसे देख कर वर्ड्सवर्थकी ये पंक्तियाँ जो पुनः पुनः प्रशंसित हो चुकी हैं सहसा याद आ जाती हैं—

It is a beauteous evening Calm and free,
The holy time is quiet as a Nun
Breathless With adoration the broad Sun
Is sinking down in its tranquility.

कहीं-कहीं प्रकृति-चित्रणमें निरालाजी रवीन्द्रसे होड़ लेतेसे दीखते हैं।

महादेवीके काव्यमें प्रकृतिका चित्रण उद्दीपनस्वरूप होता है। उन्होंने अपने अनन्त विरहको प्रकृतिके साथ मिलाकर एकाकार कर दिया है। उनका प्रिय सदैव प्रकृतिके धुधले चित्रोंमें छिपा रहता है जिसे खोजनेके मिस वह उसके पट-पर पट उघारती जाती हैं। दीपशिखाकी भूमिकामें उन्होंने लिखा है "प्रकृतिका शांत रूप जैसे मेरे हृदयको चंचल लयसे भर देता है, उसका रौद्र रूप वैसे ही आत्माको प्रशान्त अस्थिरता देता है। अस्थिर रौद्रताकी प्रतिक्रिया ही सम्भवतः मेरी एकाग्रताका कारण रहती है। मेरे अन्तर्मुखी गीतोंमें तो यह एकाग्रता ही व्यक्त हो सकती है।

परन्तु चित्रोंमें उनका बाह्य आवरण भी चित्रित हो सका है। मेरे निकट आँधी, तूफान, बादल, समुद्र आदि कुछ ऐसे विषय हैं, जिनपर चित्र बनाना अनायास और बना लेनेपर आनन्द स्थायी होता है।" उनका प्रकृति-चित्रण यथार्थका प्रतिबिंब न होकर स्थूलगत सूक्ष्मका भावक है।

प्रकृतिकी तस्वीर उतारनेवाले कवियोंमें बच्चन और नेपाली मुख्य हैं। व्यक्तिकी प्रधानता जितनी बच्चनकी कवितामें है, आधुनिक युगके किसी अन्य कविकी कवितामें उतनी नहीं। व्यक्ति, उसके मनोभाव और फिर उसकी चहार दीवारी—बच्चनको इस इतनेकी ही आवश्यकता है। इसलिए वह प्रकृतिको कहीं और कभी नहीं छोड़ सके हैं। प्रकृतिमें बराबर उन्होंने अपनी मनःस्थितिका विश्लेषण पाया है। वह उनके सारे कार्य-व्यापारोंकी साक्षिणी है। अपनी इधरकी रचनाओंमें उन्होंने प्रकृतिके वासनात्मक पहलूको ही अपनाया है। 'मिलन-यामिनी'के कुछ गीत सचमुच बहुत सुन्दर उतरे हैं। एक ओर जहाँ उनमें '**प्रिय शेष बहुत है रात, अभी मत जाओ!**' और '**प्रिय मौन खड़े जलजात, अभी मत जाओ!**' की उद्दाम वासना और आकर्षण है तो दूसरी ओर '**कुदिन लगा, सरोजिनी सजा न सर**' और '**मैं गाता हूँ इसलिए कि पूरबसे सुरभित जो सोना शुभ्र-सलोना नित्य बरसता है, उसको कोई बस प्रातकिरण मत कह बैठे।**' की दुर्दम अनुरक्ति भी। '**प्रहार शीत वातका हुआ निठुर**' आदि कुछ प्रगीतोंमें सांकेतिकताका प्रयोग बेजोड़ है। नेपाली तो जैसे रूप और रूपसे अधिक प्रकृतिके कवि हैं। उन्होंने प्रकृतिकी रमणीयताको गीत-चित्रोंमें बाँधा है। जैसे हम कोई अत्यन्त मनोरम दृश्य देखकर उसका एक स्नैप ले लेते हैं, वैसे ही नेपालीकी आँखें कैमरेकी आँख हैं। उनके चित्रोंमें गति तो नहीं मिलेगी; पर रंगोंकी विविधता दर्शनीय हो जाती

है। और रङ्ग भरनेकी कलामें उन्हें इतना कमाल हासिल है कि कभी वह पुनरारोप नहीं होने देते। 'नवीनमें' उनकी कविताका नया निखार है। अपनी नई दिशामें वह पूरे सफल हैं। दो-एक कल्पनाएँ—

दो मेघ मिले हौले-हौले, बरसाकर दो-दो फूल चले।
उषाने मले अबीर-गुलाल, कमलके गाल लाल कर दिए।

प्रगतिवादियोंका प्रकृति-निरीक्षण छायावादियों और रोमांटिकोंसे तत्त्वतः भिन्न है। जहाँ रोमांटिक कवि प्रकृतिके सुनहले पक्षको देखकर ही उससे आनन्दकी अनुभूति प्राप्त करता था, वहाँ प्रगतिवादी कवि उसके कुरूप-रूपकी ओर भी आकृष्ट हुआ है और उसमें भी उसने सुन्दरता पाई है—

कूड़ा-करकट जो कुछ भूपर, सब कुछ सार्थक सब कुछ सुन्दर!

प्रगतिवादकी वर्त्तमान प्रचलित व्याख्याको मार्क्सका व्यावहारिक साहित्यिक रूप मानना अनुचित न होगा। मार्क्सवादको आधुनिक समाज-व्यवस्थासे सन्तोष नहीं। वह सृष्टिका पुनर्निर्माण चाहता है। जो कुछ प्राचीन और रूढ़िवादी हैं उन सबको तोड़-फोड़ कर वह नई दुनिया नये सिरसे गढ़ा चाहता हैं। उसकी दृष्टिमें साहित्य आइना नहीं, हथौड़ा है। (ट्राट्स्की)। उसका चित्रण कल्पनासे दूर विशुद्ध यथार्थ-वादी होता है। पन्त की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' तो प्रगतिवादका जय-घोष ही हैं। इनमें वह अपनी मूर्त्ति-विधायनी शक्ति छोड़ सादे पेंसिल-स्केच बनाते दीखते हैं। तुच्छतामें गौरव-दर्शनकी प्रवृत्तिने निरालाके विचारोंमें भी क्रान्ति ला दी है, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने कुरूप 'कुकुरमुत्ता' का भी चित्र दिया है।

यह विचारणीय है कि इन दिनों हमारे अधिकांश कवि गाँवोंमें न रहकर बड़े-बड़े शहरोंमें रहते हैं। फलतः उन्हें नगर-सुलभ दृश्य ही अधिकतर देखनेको मिलते हैं। उनके सामने प्रकृतिको वन-उपवनों, मुक्त

आकाशमें देखनेकी अपेक्षा खिड़कीसे अपने घरके सामने कृत्रिमरूपसे लगाए गए गमलेकी गुलदाउदी और स्वीट-पीको ही देखनेका अवसर ज्यादा रहता है। वे तरु-गुल्मादि आच्छादित शैल-शृङ्गोंका गगन-चुम्बन देखनेकी अपेक्षा पासके कारखानेकी चिमनीसे उठता धुआँ ही देखा करते हैं। अतः दिनों-दिन हिन्दी-कवितासे प्रकृति-चित्रण दूर होता जा रहा है। जहाँ है भी वह एक बहुत संकुचित वातावरणके चित्रके रूपमें गद्यात्मक, सेकेण्ड-हैण्ड जैसा। दूसरी बात अब, उसकी सुन्दरता-शालीनताकी अपेक्षा रौद्रता-भयङ्करता ही कवियोंको अधिक आकृष्ट कर रही है। आजकल नई रचनाओंमें विध्वंस, कुरूपताके ही चित्र ज्यादा देखनेको मिलते हैं। इस सम्प्रदायके कवियोंमें सबसे सशक्त व्यक्तित्व दिनकरका है। यों उनके 'द्वंद्व-गीत' में प्रकृति-चित्रणका दार्शनिकताके साथ संयोग किया गया है। व्यङ्ग और कटुताकी मात्रा प्रभाकर माचवे और रांगेय राघवमें ज्यादा है।

आजके इस प्रयोगवादी युगमें प्रकृति-चित्रणकी नई-नई प्रणालियोंसे काम लिया जा रहा है। हिन्दी कविता एक बहुत संकुचित क्षेत्रमें पहुँचा दी गई है। अतः दृष्टिकोण और कैनवासमें भी प्रसारकी आवश्यकता है। कुछ प्रगतिके चिह्न भी दिखलाई दे रहे हैं। मगर इस दिशामें परिणतियोंसे संभावनाएँ ही अधिक हैं। भविष्यमें काव्यका प्रकृतिसे क्या और कैसा सम्बन्ध रहेगा, यह तो वही जाने। लेकिन अगर अनुकरणको छोड़ कर चिन्तन-अनुवीक्षणसे काम लिया गया तो निस्संदेह एक नया अध्याय जुड़ेगा।—(**साहित्य-सन्देशसे संकलित**)

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	९	५८०	९८०
१६	९	बहुस्याम्	बहु स्याम्
३२	१२	नुदितपवन-	नुदति पवन-
३३	२	स्नेहंव्यक्ति-	स्नेहव्यक्ति-
६२	१७	Induegence	Indulgence
६६	१७	कहने ढंगके	कहनेके ढंगके
७२	३	१६००	१९००
८४	७	परिणाम	परिमाण